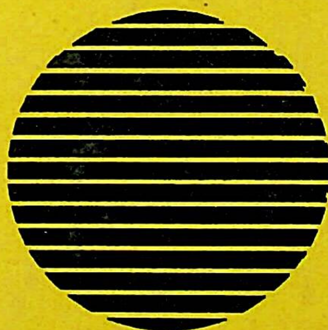
पाणिनीय प्रत्याहार-समीक्षा

3.2



डॉ० उपेन्द्र पाण्डेय

उत्कर्ष प्रकाशन, वाराणसी-१०

भाषा की अत्यन्त तार्किक एवं सुपरिशुद्ध अनुशासन की पद्धति आविष्कृत करने के लिए पाणिनीय व्याकरण सारे विश्व में प्रसिद्ध है। स्वल्पतम शब्दों से विरचित सन्देहरहित, सारवान्, विश्वतोमुख प्रवृत्ति में समर्थ, पुनरुक्तिरहित एवं सर्वथा निर्दोष पाणिनीय सूत्र व्याकरण के लक्षणनिर्माण के लिये ही नहीं, अपितु सभी शास्त्रों में लक्षण–विधान के लिये आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इस शास्त्रीय पद्धति को आविष्कृत करने में आचार्य पाणिनि ने अनेक युक्तियों का उपयोग किया है– इनमें 'प्रत्याहार' और 'अनुवृत्ति' प्रमुख हैं। प्रत्याहार की युक्ति का आधार 'वर्णसमाम्नाय' के रूप में 'वर्णमातृका' का पुनरुपदेश है।

'पाणिनीय प्रत्याहारसमीक्षा' में डाक्टर उपेन्द्र पाण्डेय ने 'वर्णसमाम्नाय' के स्वरूपविवेचन से कृति का आरम्भ कर प्रत्याहारों के प्रयोजन, स्वरूप, संख्या और उपयोग आदि पर सूक्ष्म एवं समीक्षात्मक विचार किया है। पाँच प्रभाओं में विभक्त इस रचना की परिणति प्रत्याहारों से संकेतित दर्शन के सूक्ष्म एवं संक्षिप्त विचार में होती है। भारतीय परम्परा भाषा को विचार–सम्प्रेषण के माध्यममात्र के रूप में विश्लेषण का विषय न मानकर उसे अहमात्मक स्वरूप की अवाप्ति का साधन और 'स्वरूपभूत' भी मानती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत समीक्षा 'प्रत्याहारों' के साङ्गोपाङ्ग विवेचन को सामने रखने में सर्वथा सफल है।

इस रचना से हिन्दी में पाणिनीय व्याकरण–सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य में एक उज्ज्वल रत्न और सम्मिलित हो गया है। मैं युवा विद्वान् एवं लेखक को इस सफल कृति के लिये बधाई देता हूँ।

प्रोफेसर कमलेशदत्त त्रिपाठी
धर्मागमविभागाध्यक्ष एवं पूर्वसंकायप्रमुख, सं. वि. ध. वि. संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

न्यायशास्त्रनदीष्णाय गुरवे श्रीत्रिपाठिने।
अर्प्यते दृष्टिपूतार्थं ग्रन्थोऽयं सादरं मया॥

उपेन्द्र-पाण्डेयः
मा.कृ. दशमी, वि.सं.२०५५
देहली

पाणिनीय-प्रत्याहार-समीक्षा

प्रणेता

डॉ. उपेन्द्र पाण्डेय

व्याकरण-साहित्याचार्य, एम. ए., पीएच. डी.

प्राध्यापक, साहित्य विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

उत्कर्ष प्रकाशन, वाराणसी- २२१०१०

प्रकाशक

उत्कर्ष प्रकाशन,

बी. ३४/३७ पी-१ गायत्री नगर,
सुकुलपुरा, वाराणसी- २२१०१०

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित ।

संस्करण : प्रथम, मालवीय जयन्ती, विक्रम संवत् २०५४, दिसम्बर, १९९७

प्रतियाँ : १०००

मूल्य : १००.००

मुद्रक : महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी।

सत्संकल्प

एवं

सत्प्रेरणा के अजस्रस्रोत,

आचारवान् तपस्वी

पूज्य पिता पण्डित श्री भागवत पाण्डेय जी

की

पुण्यस्मृति में श्रद्धापूर्वक

सादर समर्पित



प्रकाशक

उत्कर्ष प्रकाशन,
बी. ३४/३७ पी-१ गायत्री नगर,
सुकुलपुरा, वाराणसी- २२१०१०

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित ।

संस्करण : प्रथम, मालवीय जयन्ती, विक्रम संवत् २०५४, दिसम्बर, १९९७

प्रतियाँ : १०००

मूल्य : १००.००

मुद्रक : महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी।

सत्संकल्प

एवं

सत्प्रेरणा के अजस्रस्रोत,

आचारवान् तपस्वी

पूज्य पिता पण्डित श्री भागवत पाण्डेय जी

की

पुण्यस्मृति में श्रद्धापूर्वक

सादर समर्पित



शुभाशंसा

अस्मत्स्नेहातिशयाभिषिक्तेन विद्वद्वरेण डॉ. श्रीमदुपेन्द्र-पाण्डेयमहोदयेन स्वोपज्ञतया महता परिश्रमेण सम्पादितः पाणिनीयप्रत्याहारसमीक्षाभिधयाऽऽलङ्कृतो ग्रन्थविशेषः क्वचित् क्वचिदंशे मया अवलोकितः। प्रभापञ्चकेन प्रकाशमानोऽयं ग्रन्थो बहुषु स्थलेषु रहस्यविशेषं प्रकटयन् राराज्यते। तथा हि- प्रथमप्रभायां चतुर्दशसु सूत्रेषु अनुबन्धकोटौ कवर्गीय-चवर्गीय-टवर्गीया वर्णा उपात्ताः, पवर्गीयो मकार एकत्रैव निर्दिष्टः, किन्तु तवर्गीयो वर्णः सर्वथा तत्पङ्क्तौ उपेक्षितः, अत्र कारणेनावश्यं भवितव्यमिति शङ्कोत्त्थापनपुरस्सरं सद्धेतुभिः साधु समाहितम्।

द्वितीयप्रभायां प्रत्यहारसंख्याविशेषं वर्णयताऽनेन ञम्-प्रत्याहारस्य विषये साधु विवेचितम्। र-प्रत्याहारमुद्दिश्य भर्तृहरि-कैयट-भट्टोजिदीक्षित-प्रभृतिप्राचीनाचार्याणां मतं समर्थनदृष्ट्या निरूप्य शाब्दिकचक्रचूडामणिश्रीनागेश-भट्टस्य मतं प्रत्याख्यानपक्षे सम्यगुपस्थापितम्। वर्णसमाम्नायमनाश्रित्य अष्टा-ध्यायीसूत्राण्याधारीकृत्य द्विविधाः प्रत्याहाराः प्रदर्शिताः। सुप्-सुट्-आप्- प्रभृतयः पाणिनीयसूत्रसम्बद्धाः, उम्-कृञ्-प्रभृतयो महाभाष्यपरिकल्पिताश्च। तृतीयप्रभायां 'दश्च' इति सूत्रस्य द्विधा पाठं प्रदर्श्य अर्थभेदः सयुक्तिकं प्रदर्शितः। एवं पञ्चमप्रभायाम् 'अर्वाचीनव्याकरणेषु पाणिनीयप्रत्याहाराणां प्रभावः' विषयमिममादाय कातन्त्र-शाकटायन-मुग्धबोध-सुपद्मव्याकरणेषु सम्बन्धः साधु निरूपितः। तत्रापि वर्णसमाम्नायरूपचतुर्दशसूत्र्या दार्शनिकपक्षो बुधैरवश्यं द्रष्टव्यः।

सरलया सरसया राष्ट्रभाषया सङ्ग्रथितोऽयं ग्रन्थो निश्चप्रचं प्रकाशनमर्हति, येन संस्कृतव्याकरणं विविदिषूणां विनेयानां विदुषां च महानुपकारः स्यात्। एतादृश्याः समीक्षायाः सम्पादनेन व्याकरणशास्त्रे विहितप्रामाणिकपरिश्रमो मेधावी पाण्डेयमहोदयो व्याकरणशास्त्राध्यापने यदि कस्याँश्चिद्विशिष्टकक्षायां नियुक्तश्चेत्तर्हि तद्विभागीय- पदस्य नूनं गौरवमभिवर्धेतेत्येवं शुभाशीर्वचोभिः संयोजयन् भगवन्तं भवानीनाथं विश्वनाथं प्रार्थयते यद् महानुभावोऽयं सुस्वास्थ्यमनुभवन् दीर्घायुषा चिरञ्जीव्यादिति।

कार्तिककृष्णभौमप्रदोषः
विक्रम-संवत् २०५४
दिनांकः २८-१०-१९९७

आचार्यरामप्रसादत्रिपाठी
काशीविद्वत्परिषदोऽध्यक्षः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये सम्मानिताचार्यश्च

प्ररोचना

महर्षि पाणिनि व्याकरणशास्त्र के एक अनुपम आचार्य थे। जिनके विषय में प्रसिद्धि है कि भगवान् शंकर ने उन पर कृपाकर अपने डमरुवादन द्वारा वर्णसमाम्नाय को प्रकट किया, जिसे पाणिनि मुनि ने सुना और चौदह सूत्रों के रूप में समाहृत कर प्रत्याहारों की कल्पना की, जिनके आधार पर लगभग चार हजार सूत्रों की रचना कर रुद्राष्टाध्यायी के नामानुरूप उसे व्याकरण अष्टाध्यायी-ग्रन्थ के नाम से विभूषित किया। आचार्य पाणिनि की यह रचना अद्भुत है। शिष्ट-प्रयुक्त पदों का प्रकृति-प्रत्यय द्वारा अन्वाख्यान करने वाला दूसरा इस कोटि का ग्रन्थ नहीं है। इसीलिए वार्तिककार कात्यायन ने अपने वार्तिकग्रन्थ के अन्त में उनके लिए भगवान् पद का प्रयोग करते हुए कहा है-

भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। म. भा. 8.4.68

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने तो इनके सूत्रों के प्रत्येक वर्णों की सार्थकता वताते हुए कहा है-

आचार्यो महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म तत्राशक्यं वर्णेनानर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण। म. भा. 1.1.1.

इसके अतिरिक्त पाणिनीय-प्रक्रिया से भिन्न-पद्धति के समर्थन में भी वे अनेक बार कहते हैं कि- सिद्ध्यत्येवमपाणिनीयं तु भवति। म. भा. प.

इससे स्पष्ट है कि पाणिनीय व्याकरण-पद्धति सर्वथा समुचित रूप से परिमार्जित है तथा पदसाधुत्व के लिए इनकी प्रत्याहार-शैली अपूर्व है। इसीलिये लोक में बालक पर्यन्त पाणिनि का नाम विश्रुत है।

पाणिनीय प्रत्याहारसमीक्षा ग्रन्थ में उन प्रत्याहारों के स्वरूप, संख्या तथा उनके उपयोगों का समीक्षात्मक निरूपण हुआ है। महेश्वर-प्रसाद से प्राप्त ये वर्णसमाम्नाय न केवल प्रत्याहार रूप से व्याकरण-प्रक्रिया के ही निर्वाहक हैं अपितु इनमें शैवागम के सिद्धान्त का भी संकेत निहित है, जिसे इस ग्रन्थ की पञ्चम प्रभा में संक्षेपतः प्रस्तुत किया गया है। नन्दिकेश्वर ने इन सूत्रों की दार्शनिक व्याख्या की है, जिसमें शैवागम सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार है-

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः ।
आद्यन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते ।। न. का. 4

इस कारिका में वर्णसमाम्नाय के आदि वर्ण अकार और अन्तिम वर्ण हकार के योग से निष्पन्न 'अहं' पद शैवागम दर्शन के प्रकाशरूप शिव तथा विमर्शरूप शक्ति के सामरस्य का बोधक है, जिस सामरस्य से जगत् प्रकाशित हो रहा है। प्रकाश में जो स्फुरणरूप विमर्श है वही प्रकाश की शक्ति है, जिससे प्रकाशरूप शिव जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार भी करते हैं। इसका उल्लेख-

नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपाऽस्य वर्तते शक्तिः ।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति ।। वरि. र. का. 4

इस पद्य में स्पष्ट है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने तो विमर्श को परावाक् के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि-

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।। वा. व्र. का. 125

अर्थात् वाग्रूप विमर्श शक्ति यदि प्रकाशरूप बोध से अलग हो जाये तो प्रकाश में प्रकाशित करने की शक्ति ही नहीं रहेगी, क्योंकि स्फुरणात्मक- विमर्शरूप शक्ति से ही प्रकाश की प्रकाशकता सिद्ध होती है। अतः प्रकाश और विमर्श का सम्वन्ध नित्य है, जो 'अहं-रूप' से सभी पदार्थों की प्रतीति का आधार है। इस नित्य सम्वन्ध की तुलना आकाश और वायु के सम्वन्ध के साथ की गयी है, जिसका उल्लेख तन्त्रालोक के व्याख्याकार ने इस प्रकार किया है-

अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ।
विभक्तिर्नानयोरस्ति मरुताम्बरयोरिव।। तन्त्रालोक 3.200

अर्थात् जैसे आकाश और वायु का सम्वन्ध नित्य है वैसे ही अ और ह का अविभक्तरूप नित्य सम्वन्ध है। भाव यह है कि जिस प्रकार आकाश में सदा वर्तमान वायु की स्फुरणरूप से प्रतीति होती रहती है उसी प्रकार प्रकाशरूप 'अ' में विमर्शरूप 'ह' भी नित्य स्फुरित होता रहता है। इस प्रकार अहंरूप में नित्य सम्पृक्त प्रकाश एवं विमर्शशक्ति से सम्पूर्ण जगत् प्रादुर्भूत होकर उसी में भासित हो रहा है। इसीलिए सभी लोग अपने आप को अहंरूप में प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि शिवशक्त्यात्मक व्यापक अहम् अन्तःकरण के विषयों में प्रतिविम्वित होकर अहंकार रूप से भी प्रतीत होने लगता है, तथापि जिस प्रकार जपाकुसुम के सम्वन्ध से स्वच्छस्फटिक रक्तस्फटिक वन जाता है, किन्तु स्वभावतः उसमें रक्तता सम्भव नहीं है उसी प्रकार विषय की स्वतन्त्र रूप से सत्ता मानने पर ही अहंकार का जन्म होता है। वस्तुतः अहंरूप व्यापक अद्वैत-तत्त्व के वोध होने पर तो उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु का भान ही नहीं होता। उस समय तो केवल एक अखण्ड की ही अनुभूति होती है। अनुभव करनेवाला भी अहंरूप वोध ही है दूसरा नहीं। इसी अनुभव रूप अहंब्रह्म के प्रतिपादन में निगमागम सभी शास्त्रों का परम तात्पर्य निहित है, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है-

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्।। गीता- 15.15

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अपने वास्तविक स्वरूप का परिचय अहंतत्त्व के माध्यम से ही दिया है। इस विषय में वरिवस्या रहस्य का भी वचन है कि-

अहकारौ शिवशक्ती शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ।
स्फुरणप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म ।। का. 69

अर्थात् प्रकाश स्फुरणरूप-अहमात्मक शिव और शक्ति परस्पर सम्मिलितरूप में वेदान्त-प्रतिपाद्य परब्रह्म ही हैं।

इस अहमात्मक शिव-शक्ति से न केवल पदार्थों का प्रादुर्भाव होता है अपितु अ और ह के सहयोग से मातृका के सम्पूर्ण वर्ण भी अभिव्यक्त होते हैं। इसीलिए आगमशास्त्र में अ और ह वर्ण को ही शिव और शक्ति का प्रतीक माना गया है। वस्तुतः शिवशक्त्यात्मक विश्व-प्रपञ्च की भाँति शब्द-संसार भी अहमात्मक ही है। इस विषय में वेद का वचन है कि-

'अकार एव सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना नानारूपा भवति।'

अर्थात् अकार ही सम्पूर्ण वर्णरूप-वाणी है और वही स्पर्श और ऊष्मा के सहयोग

से अनेक वर्णों के रूप में अभिव्यक्त होती है। ऊष्मा वायु के साथ जो अकार का सहयोग बताया गया है उसका तात्पर्य यह है कि 'ह' वर्ण ऊष्माप्रधान है, अतः 'अ' का ऊष्मा के साथ नित्य सम्बन्ध है, क्योंकि प्राणवायु के विना अवर्ण की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और 'ह' का प्रयोग भी 'अ' के विना सम्भव नहीं है। सभी व्यञ्जन वर्णों की स्थिति यह है कि वे स्वर की सहायता से ही प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए कहा जाता है-

नाचं विना व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति। म. भा. 1.2.30

इससे यह सिद्ध है कि अ और ह का सामरस्य ही ताल्वादि स्थान विशेष को प्राप्त कर नाना वर्णों के रूप में प्रतिफलित होता है। अ और ह के नित्य साहचर्य में दूसरा उच्चारणरूप अनुभव प्रमाण यह है कि इनकी अभिव्यक्ति एक ही स्थान से होती है, जिसका समर्थन 'कण्ठ्यावहौ' कहकर पाणिनीय शिक्षा (श्लोक-१७) भी करती है।

यद्यपि कण्ठ और जिह्वामूल स्थान में सूक्ष्म भेद होने के कारण व्याकरण-शास्त्र में पदसाधन-प्रक्रिया के लिए अवर्ण, कवर्ग और ह- इन तीनों का एक स्थान मान लिया गया है, किन्तु अ और ह वर्ण के उच्चारण में जिह्वामूल का स्पर्श नहीं होता है, जैसा कि कवर्ग के उच्चारण में होता है। अतः अभिव्यक्ति के स्थान की एकता से भी दोनों वर्णों का नित्य साहचर्य सिद्ध होता है।

निष्कर्ष यह है कि अ और ह वर्ण के सामरस्य से सम्पूर्ण वर्णों की अभिव्यक्ति होने के कारण आगम-शास्त्र में सभी तत्त्वों के मूलरूप में शिव तथा शक्ति के प्रतीकरूप से अ और ह को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है, जिसका सामरस्यरूप व्यापक 'अहं' पद है।

प्रत्याहारों में सबसे व्यापक अल् प्रत्याहार है। इससे आदि वर्ण अकार से अन्तिम वर्ण हकार तक के सभी वर्णों का बोध होता है। इस व्यापक 'अहं-रूप' शब्द-ब्रह्म का शिव-शक्त्यात्मक परब्रह्म परमात्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। इस वर्णसमाम्नाय में हकार वर्ण दो बार आया है, जो पद-प्रक्रिया के लिए उपयोगी होते हुए भी दो 'अहम्' का प्रतीक भी है। 'हयवरट्' के हकार के साथ अवर्ण का सम्बन्ध व्याप्य है, जो व्याप्य- रूप जीवात्मा का बोधक है तथा 'हल्' के हकार के साथ अवर्ण से युक्त 'अहंरूप' व्यापक परमात्मा का बोधक है। मूलतः दोनों एक ही हैं, क्योंकि व्यापक अहं के भीतर ही व्याप्य अहं विद्यमान है।

प्रत्याहारों की इस समीक्षा में समीक्षक डाक्टर उपेन्द्र पाण्डेय ने युक्ति और प्रमाणों द्वारा अपनी बात प्रस्तुत की है, जो भाषा और शैली की दृष्टि से सर्वथा नवीन है। अतः मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ से विज्ञ पाठक अवश्य लाभान्वित होंगे, साथ ही लोग इनसे अन्य नवीन कृति की आशा भी करेंगे। भगवान् साम्ब सदाशिव से प्रार्थना है कि वे इन्हें विशेष बुद्धि प्रदान करें, जिससे ये पाणिनीय व्याकरण के रहस्यों को प्रकट करते हुए अहर्निश अभ्युदय के पथ पर अग्रसर होते रहें। इति शिवं स्तात्।

चक्रवर्ती रामाधीन चतुर्वेदी
पूर्वव्याकरणविभागाध्यक्ष, सं. वि. ध. वि. संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अक्षयनवमी
विक्रम संवत् २०५४
भद्रवनी, काशी

॥ श्रीः ॥

प्रस्तावना

व्याकरण शास्त्र और प्रत्याहार

निगम-आगम में प्रयुक्त शब्दों की प्रकृति-प्रत्यय द्वारा व्याकृति तथा अपशब्दों से शब्दों को पृथक् कर उन्हें सूत्रों के शासन में रखना ही व्याकरण-शास्त्र है। सक्तु में मिले तुष के समान साधु-शब्द में असाधुशब्द मिले रहते हैं। आचार्य भर्तृहरि ने कहा है-

दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः। वा. ब्र. का. 115

अर्थात् दैवीवाक् संस्कृत भाषा असमर्थ वक्ताओं से उच्चरित होकर अपशब्द बन जाती है, जिससे 'गौ' शब्द के गावी, गोणी, गाय आदि अनेक असाधु शब्द लोक में प्रयुक्त होने लगते हैं। इसलिए शब्दापशब्द मिले हुए हैं, जिन्हें शिष्ट विद्वान् पुरुष ही अलग करते हैं, यह बात वेदवाक्य से भी सिद्ध है, जिसका उल्लेख महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस प्रकार किया है-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचामक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥ म.भा.प.

अर्थात् चलनी से भूसी को अलग कर सत्तू का उपभोग करने के समान शिष्टों के द्वारा अपशब्द से पृथक् किये गये साधु शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। अतः साधु शब्द की पृथक्-कृति की परम्परा बहुत प्राचीन है।

वेद के षडङ्गों में व्याकरण की मुख्यता है, जिसे छान्दोग्योपनिषद् में वेदानां वेदः कहा गया है, क्योंकि प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा वेदमन्त्रों का अर्थज्ञान व्याकरण-शास्त्र से ही होता है। पदार्थ-सृष्टि के साथ पद-सृष्टि भी है। भले ही वह एक साधु-शब्द के अनेक रूप में विकास या विकृति ही क्यों न हो, पर निरन्तर उसमें परिवर्तन होता रहता है, तभी तो एक वैदिक-संस्कृत वाक् ही पालि-प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं और बोलियों के रूप में फैली हुई है, जिनका अपना अपना व्याकरण भी है। एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में न मिल जायें, इस भावना से उपलब्ध तथा वेदाङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित महर्षि पाणिनि का व्याकरण सौत्रग्रन्थ अष्टाध्यायी है। इसमें 3978 सूत्र हैं, जो आठ अध्यायों के बत्तीस पादों में विभक्त हैं। सूत्र के संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश, अधिकार-ये छः अवान्तर भेद हैं। जिनमें विधि-सूत्रों की संख्या सबसे अधिक है। विधि-शास्त्र के विधान को समझने के लिए ही संज्ञा, परिभाषा, नियम, अतिदेश, तथा अधिकार सूत्र हैं। इनके द्वारा ही विधि की असन्दिग्ध प्रवृत्ति होती है।

विस्तृत ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद सौत्रग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई, जिनमें ऋक्प्रातिशाख्य, वाजसनेय प्रातिशाख्य, सामप्रातिशाख्य आदि सौत्रग्रन्थों की रचना हुई। जिसका समर्थन पाश्चात्त्य विद्वान् लिबिश, मैक्समूलर, बेवर, रॉथ तथा भारतीय

विद्वान् पं. भगवद्दत्त, पं युधिष्ठिर मीमांसक आदि भी करते हैं, किन्तु गोल्ड स्टुकर महोदय पाणिनि के अष्टाध्यायी के बाद प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना मानते हैं, जो तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पाणिनि की सूत्ररचनाशैली प्रातिशाख्यों में नहीं मिलती। यह स्वाभाविक है कि पूर्ववर्ती रचनाशैली का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य उत्तरवर्ती तत्सजातीय रचनाओं पर पड़ता है। महर्षि पाणिनि की सूत्ररचना अनुवृत्तिक्रम तथा प्रत्याहार-शैली प्रधान है। अतएव-

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।। धर्मो. पु. 3.4

यह सूत्र-लक्षण पाणिनि के सूत्रों में सर्वथा संघटित होता है। प्रातिशाख्यों में पदों की अनुवृत्ति का क्रम तो है, किन्तु प्रत्याहार-शैली का सर्वथा अभाव है। प्रत्याहार-प्रक्रिया तो माहेश्वर वर्णसमाम्नायक्रम से प्रारम्भ हुई है, इससे पूर्व प्रचलित अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग आदि वर्णमातृका के क्रम से नहीं। डॉ० सत्यकाम वर्मा ने अपने ग्रन्थ संस्कृत व्याकरण का उद्‌भव और विकास (पृ. 358) में चान्द्र व्याकरण की सूचना के अनुसार लिखा है कि ''पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य 'ऐऔच्' की जगह 'ऐऔष्' सूत्र पढ़ते थे और 'अच्' प्रत्याहार के स्थान पर 'अष्' प्रत्याहार का व्यवहार करते थे, जिससे हम जान पाये कि पाणिनि से पहले भी 'वर्णसमाम्नाय' की वह सूत्र-पद्धति प्रचलित थी, जिसको बाद में 'माहेश्वर सूत्र' कहा गया और जिसका सम्बन्ध केवल पाणिनि से ही जोड़ दिया गया। इसका अर्थ है कि इस प्रकार के वर्णसमाम्नाय और प्रत्याहारों की पद्धति बहुत पहले से चली आई है''। किन्तु यह डॉ. वर्मा का अनुमानमात्र है, इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। यदि मूर्धन्य षकारान्त 'अष्' प्रत्याहार होता तो किसी न किसी रूप में पाणिनि उसकी चर्चा अवश्य करते, क्योंकि पाणिनि का व्याकरण समन्वयात्मक है। इसमें सभी वैदिक और लौकिक शब्दों का अन्वाख्यान तथा प्राचीन आचार्यों के मतों का नामतः उल्लेख हुआ है। इसलिए प्रत्याहार-पद्धति पाणिनि की स्वोपज्ञ है। प्रत्याहार-प्रक्रिया के कारण आचार्य कात्यायन और महर्षि पतञ्जलि ने ससम्मान उनका स्मरण किया है-

भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। म. भा. 8.4.68
शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः। म. भा. 2.3.66

इसके अतिरिक्त अर्वाचीन कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, मुग्धबोध, सारस्वत, सुपद्‌म, हरिनामामृत आदि व्याकरण-शास्त्रकार भी पाणिनि के प्रत्याहार से प्रभावित थे, जिसकी चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ में की गई है। साथ ही प्रातिशाख्य आदि में प्रसिद्ध वर्णमातृका की अपेक्षा वर्णसमाम्नायरूप चौदह सूत्रों का दार्शनिक पक्ष भी है, जिसमें सांख्य-दर्शन के पच्चीस तत्त्वों का संकेत है, जिसका उल्लेख ''वर्णसमाम्नायरूप चौदह सूत्रों का दार्शनिक पक्ष'' नामक शीर्षक में स्वतन्त्ररूप से किया गया है।

पाणिनीय प्रत्याहारों की इस समीक्षा से मुझे बहुत सी नयी बातें ज्ञात हुई हैं, जिनमें समान नामवाले अच् प्रत्याहार और अच् प्रत्यय के पार्थक्य का संकेत

एवम् अट् प्रत्याहार और अट् आगम तथा इण् प्रत्याहार और इण् धातु के भेदों का कारण विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त जिन प्रत्याहारों का शब्दतः सूत्रों में उल्लेख हुआ है तथा जिनका दूसरे सूत्रों से भी सम्बन्ध है, उन सभी के सोदाहरण परिचय से यह ज्ञात हो गया कि पाणिनि के कितने सूत्रों में प्रत्याहार का उपयोग हुआ है। साथ ही यह बात भी समझ में आ गयी कि कारक, समास, आत्मनेपद, परस्मैपद आदि विधि-सूत्रों में प्रत्याहार का उपयोग क्यों नहीं हुआ, इस प्रश्न का समाधान भी प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। इसमें मुख्यरूप से संहिता कार्य आते हैं, क्योंकि इनमें ही वर्ण के पूर्वापर का सम्बन्ध अपेक्षित होता है। कारक, समास आदि विधियाँ तो अर्थप्रधान हैं, अर्थ को निमित्त मानकर होती हैं, इसलिए उनमें वर्णसमाम्नाय सम्बन्धी प्रत्याहारों का उपयोग नहीं हुआ। अतः प्रायः वर्णसन्धि, प्रातिपदिक एवं धातु सम्बन्धी कार्यों में ही विशेषरूप से प्रत्याहारों का उपयोग हुआ है। जिनका उपयोग हुआ है, उन सभी सूत्रों के अर्थों का निरूपण अनुवर्तित पदों के सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए किया गया है।

वर्णसमाम्नाय की उपयोगिता में वार्तिककारोक्त "वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः, अनुबन्धकरणार्थश्च, इष्टबुद्ध्यर्थश्च" इन तीन प्रयोजनों का तात्पर्य प्रस्तुत है। तत्पश्चात् प्रत्याहार पद का अर्थ तथा योग- दर्शन के प्रत्याहार पद के साथ इस योगरूढ़ प्रत्याहार पद की समता दिखायी गयी है। साथ ही पाणिनीय प्रत्याहारों का आधार वर्णसमाम्नाय है, इस विषय पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके आगे वर्णमातृका और वर्णसमाम्नाय का पूरा परिचय है। वर्णसमाम्नाय से सम्बद्ध प्रत्याहारों की संख्या के निर्धारण में चय्, ञम् और र-प्रत्याहार की समालोचना की गयी है। वर्णसमाम्नाय से असम्बद्ध सुप्, सुट्, आप्, तिङ्, तङ् तथा उम्, कृञ्, तृन्, मात्रच्, सङ्- इन दस प्रत्याहारों का भी सोदाहरण विवेचन किया गया है। तृतीय प्रभा में 'अ इ उ ण्, ऋ ऌ क्' आदि चार सूत्रों के अनुबन्धों से बननेवाले अण्, अक्, इक्, उक्, एङ्, अच्, इच्, एच्, ऐच् आदि इन स्वर-सम्बन्धी नौ प्रत्याहारों का विवेचन तथा अङ्, इङ् आदि सम्भावित प्रत्याहारों को प्रत्याहार न मानने में फलाभावरूप कारण का उल्लेख है।

इसके बाद अच् प्रत्याहार और अच् प्रत्यय के भेद-निरूपण में अच् प्रत्याहार का उपयोग उद्देश्य तथा पूर्व और उत्तर के निमित्तरूप में ही हुआ है, विधेयरूप में अच् प्रत्याहार का प्रयोग किसी भी सूत्र में नहीं हुआ है- इसका उपपादन है। इसी प्रकार अट् प्रत्याहार और अट् आगम का विवेचन एवम् इण् प्रत्याहार और इण् धातु का विश्लेषण प्रमाणों के साथ किया गया है।

"सुप्तिङन्तं पदम्" आदि सूत्रों में प्रयुक्त सौत्र प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्रों का सोदाहरण परिचय तथा अर्वाचीन व्याकरण में पाणिनीय प्रत्याहारों के प्रभाव की चर्चा है। इसके बाद वर्णसमाम्नाय के दार्शनिक पक्षों का समर्थन है, जिसमें नन्दिकेश्वर काशिका, सांख्यदर्शन एवं शैवागम के आध्यात्मिक तत्त्वों का समन्वय किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि वैदिक-लौकिक पदों के विवेचन में पाणिनीय व्याकरण

शास्त्र प्रमुख है, क्योंकि इसमें पदों का अनुवृत्ति-क्रम तथा प्रत्याहार-पद्धति अपनायी गयी है। इन दो कारणों से सूत्रों का अल्पाक्षरत्व तथा पदसाधुत्व-प्रक्रिया में लाघव हुआ है। प्रायः सभी सूत्र अपने पूर्व सूत्र से सम्बद्ध हैं। पूर्वसूत्र के किसी न किसी वर्ण या पद का उत्तर सूत्र में अनुवर्तन होता है। जैसा कि संज्ञाविधायक "वृद्धिरादैच्" "अदेङ् गुणः" इन दो सूत्रों के गुण-वृद्धि शब्द का अगले "इको गुणवृद्धी" सूत्र में सम्बन्ध होने से ही इस परिभाषा सूत्र का अर्थ होता है कि- गुण और वृद्धि शब्द के द्वारा जहाँ गुण और वृद्धि का विधान हो, वहीं 'इकः' यह षष्ठ्यन्त प्रत्याहार पद उपस्थित हो दूसरी जगह नहीं। इसलिए "मिदेर्गुणः" "जुसि च" आदि गुण-विधायक सूत्रों में उद्देश्य के निर्धारण में इक् प्रत्याहार का सम्बन्ध होता है, "त्यदादीनामः" सूत्र में नहीं, क्योंकि इससे अरूप गुण का विधान गुण शब्द से नहीं होता ।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में प्रत्याहार-सम्बन्धी सन्देहात्मक विषयों की समीक्षा का प्रयास किया गया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पाणिनीय व्याकरण के जिज्ञासु सुधीजन इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

इस समीक्षा की सिद्धि में महावीर महावैयाकरण श्रीरामभक्त हनुमान् का अनुग्रह विशेषरूप से सम्बल रहा। इनके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की पूर्णता में पूज्य गुरुवर चक्रवर्ती पण्डित श्री रामाधीन चतुर्वेदी (पूर्व व्याकरण विभागाध्यक्ष, का. हि. वि. वि.) एवं श्रद्धेय गुरुवर प्रोफेसर जयशंकरलाल त्रिपाठी का पूरा सहयोग प्राप्त हुआ है, अतः इनके प्रति मैं नतमस्तक हूँ। ग्रन्थ को दृष्टिपूत कर श्रद्धेय गुरुवर आचार्य श्री राम प्रसाद त्रिपाठी एवं प्रोफेसर कमलेशदत्त त्रिपाठी ने विशेष प्रोत्साहित किया है, अतः उनको मैं प्रणाम करता हूँ।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के माध्यम से इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ जो आर्थिक सहयोग प्रदान किया है तदर्थ मैं उक्त दोनों संस्थाओं के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। ग्रन्थ को प्रकाश में लाने की प्रेरणा व्याकरण विभागाध्यक्ष डॉ. रमेशचन्द्र पण्डा, डॉ. कृष्णकान्त शर्मा, मित्रवर डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास एवं डॉ. कमलेश कुमार जैन से मिलती रही है, अतः मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। ग्रन्थ की कम्प्यूटर प्रति तैयार करने में सॉफ्टविन कम्प्यूटर, सुन्दरपुर वाराणसी ने जो परिश्रम किया है उसके लिए मैं श्रीमती कुसुम राय के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। अन्त में भगवान विश्वनाथ से प्रार्थना है कि उनकी कृपा से यह ग्रन्थ अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हो।

प्रबोधिनी एकादशी
विक्रम संवत् २०५४
१० नवम्बर १९९७

उपेन्द्र पाण्डेय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी



तृतीय प्रभा 27-68

प्रत्याहारों का उपयोग

चतुर्थ प्रभा 69-70

पञ्चम प्रभा 95-105

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

प्रणम्य जगदाधारं निराधारं महेश्वरम्।
शब्दानुशासनाधारः प्रत्याहारः समीक्ष्यते॥

प्रथम प्रभा

1. प्रत्याहार का प्रयोजन

वेद के षडङ्गों में शब्दानुशासन शास्त्र प्रधान है। शब्दानुशासन का दूसरा नाम व्याकरणशास्त्र है जिसमें पाणिनीय व्याकरण का विशेष महत्त्व है, जैसा कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है--

पाणिनीयं महत्सुविहितम्। म. भा. 4.3.66
सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। म. भा. 2.1.68

वास्तव में सभी प्रकार के लौकिक एवं वैदिक शब्दों का निर्वचन जैसा पाणिनीय व्याकरण में लाघव-प्रक्रिया द्वारा सुगम पद्धति से सम्पन्न होता है, वैसा अन्य व्याकरणों में नहीं। लाघव-प्रक्रिया में सूत्रों का अनुवृत्तिक्रम तथा प्रत्याहारों की परिकल्पना ये दो मुख्य कारण माने जाते हैं। महर्षि पाणिनि के प्रायः सभी सूत्र प्रत्याहारों पर आधारित हैं। बहुत से सूत्र तो प्रत्याहारात्मक ही हैं, जिनका उल्लेख अगले प्रकरण में होगा। पदों की सिद्धि प्रत्याहार-प्रक्रिया पर आधारित है, जिसके लिए अक्षरसमाम्नाय का पृथक् से उपदेश हुआ है। यों तो वर्णज्ञान के लिए प्रसिद्ध मातृकापाठ प्रसिद्ध था ही, पुनः अक्षरसमाम्नाय का उपदेश यहाँ विशेष तात्पर्य रखता है, इसीलिएं महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अक्षरसमाम्नाय के विषय में प्रश्न किया है कि वर्णों का उपदेश किसलिए है? (म.भा.प.)

इस प्रश्न के आशय को स्पष्ट करते हुए नागेश भट्ट ने कहा है कि व्यवहार में प्रसिद्ध मातृकापाठ से ही वर्णों का ज्ञान सम्भव है, पुनः महेश्वर का वर्णसमाम्नाय किसलिए है? (म. भा. प. उ.) इस प्रश्न के सामाधान में भाष्यकार ने वार्तिककारोक्त वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः, अनुबन्धकरणार्थश्च, इष्टबुद्ध्यर्थश्च इन तीन प्रयोजनों को प्रस्तुत किया है। जिनमें वर्णों का आनुपूर्वी-सन्निवेश ही वृत्ति है और उपदेश पद का अर्थ उच्चारण है, क्योंकि उपदेश पद के मूल में दिश् धातु है, जिसका अर्थ उच्चारण है, इसलिए वर्णों का उच्चारण करके कहा जाता है कि इन वर्णों का उपदेश किया गया। वर्णों का यह उपदेश वृत्तिसमवाय और अनुबन्ध के लिए है। वर्णों का यह आनुपूर्वी-सन्निवेश तथा अनुबन्ध प्रत्याहारों के लिए है और प्रत्याहार वर्णों के आनुपूर्वी ज्ञान के लिए। (म. भा. प.)

पाणिनीय व्याकरण में प्रत्याहार शब्द से अण्, अक्, अच् आदि संज्ञाएँ समझी जाती हैं, ऐसा कैयट ने स्पष्ट किया है। नागेश भट्ट ने प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः इस भाष्य-प्रतीक की व्याख्या करते हुए लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थः कहा है। अर्थात् सुगम रीति से लक्ष्य में लक्षणों की प्रवृत्ति ही प्रत्याहारों का मुख्य प्रयोजन है।

2. प्रत्याहार पद का अर्थ

प्रत्याहार-प्रयोजन के बाद प्रत्याहार पद का अर्थ क्या है? ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक है, इसलिए प्रत्याहार पद का अर्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि महर्षि पाणिनि द्वारा रचित अष्टाध्यायी ग्रन्थ में प्रत्याहार पद नहीं मिलता, फिर भी प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए सूत्र का निर्देश है। (पा. सू. 1.1.71) अचार्य कात्यायन ने तो अक्षरसमाम्नाय-अ इ उ ण् आदि चौदह सूत्रों के अनुबन्धों का विचार करते हुए प्रत्याहार पद का स्पष्ट उल्लेख किया है-

प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न।
आचारादप्रधानत्वाद् लोपश्च बलवत्तरः।। म. भा. प्र. आ.

अर्थात् अच्, हल् आदि प्रत्याहारों में अनुबन्धों का ग्रहण नहीं होता। ग्रहण न होने में आचार-व्यवहार, इत्संज्ञक वर्णों की अप्रधानता तथा उनका लोप - ये तीन कारण हैं।

'आदिरन्त्येन सहेता' इस सूत्रं के द्वारा की जाने वाली संज्ञाएँ प्रत्याहार शव्द से समझी जाती हैं[1]। उनमें इत्संज्ञक = अनुवन्ध वर्णों का ग्रहण नहीं होता। भट्टोजिदीक्षित ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि यदि प्रत्याहारों में इत्संज्ञक वर्णों का ग्रहण होता तो 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (पा. सू. 1.3.2) इस पाणिनि के सूत्र का स्वरूप 'उपदेशेऽजनुनास्यक इत्' ऐसा हो जाता , क्योंकि 'ऋ लृ क्' के 'क' वर्ण को अच् होने से यण् सम्भव था, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। इससे ज्ञात होता है कि प्रत्याहारों में इत्संज्ञक वर्णों का ग्रहण नहीं है।

प्रति-आङ् उपसर्ग पूर्वक हृ-धातु से अधिकरण अर्थ में घञ्-प्रत्यय के सम्बन्ध से प्रत्याहार पद निष्पन्न होता है। अतः प्रत्याह्रियन्ते = संक्षिप्यन्ते वर्णा यत्र इस निर्वचन से भी पूर्वोक्त अर्थ का ही समर्थन होता है। अच् इस संक्षिप्त संज्ञाशव्द से अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ - इन वर्णों का बोध होता है। इसलिए प्रत्याहार पद योगरूढ़ है। जिस प्रकार पङ्काज्जातः पङ्कजः, इस व्युत्पत्ति से कमल का ही वोध होता है, शैवाल का नहीं, उसी प्रकार प्रत्याहार पद से अच्, हल् आदि प्रत्याहार ही समझे जाते हैं, अ, इ, उ नहीं। यद्यपि अ से दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि सजातीय अठारह वर्णों का बोध होता है, फिर भी ये प्रत्यहार पद से व्यवहृत नहीं होते[2]। अ आ इ ई उ ऊ आदि प्रत्येक स्वर अच्-प्रत्याहार से सम्बन्धित है, स्वतन्त्र प्रत्याहार नहीं हैं। जैसा कि 'आदिरन्त्येन सहेता' इस सूत्र के व्याख्यान-प्रसङ्ग में भट्टोजिदीक्षित ने कहा है कि वर्णसमाम्नाय-सूत्र के आदि और अन्त वर्णों के द्वारा मध्य ; समुदाय का आक्षेप होता है और उस समुदाय का एकसाथ लक्ष्य में प्रयोग न होने के कारण प्रत्येक वर्ण अच्, हल् आदि प्रत्याहार-

1. आदिरन्त्येन सहेता इत्येतत्सूत्रेण कृताः संज्ञाः प्रत्याहारशब्देन व्यवहियन्ते। सि. कौ. संप्र.
2. प्रत्याहियन्ते=संक्षिप्यन्ते वर्णा यत्र इति वाहुलकादधिकरणे घञ्। यद्यपि योगमात्रमकारादि-संज्ञास्वतिप्रसक्तं तथापि योगरूढ़िरिति भावः । प्रौ. म. संप्र.

संज्ञक होता है[1]। इसलिए वर्णसमाम्नाय में जो वर्ण पढ़े गये हैं, वे ही अच् आदि प्रत्याहार पद से लिए जाते हैं, ऐसा निश्चय नहीं करना चाहिए, क्योंकि अ-वर्ण के सजातीय वर्णों में भी प्रत्याहार पद का व्यवहार प्रसिद्ध है। जैसा सुधी + उपास्यः इस विग्रह में इको यणचि इस सूत्र की प्रवृत्ति दीर्घ ईकार को इक् प्रत्याहार मानकर होती है, जिससे सुद्ध्युपास्यः यह लक्ष्य बनता है।

अव यहाँ प्रश्न होगा कि इको यणचि (पा. सू. 6.1.77) इस सूत्र के इक्, यण्, एवम् अच्-प्रत्याहार जाति के बोधक हैं या व्यक्ति के। यदि जाति के बोधक हैं तव तो सुधी+उपास्यः में यण् होगा, क्योंकि इक् की जाति छियासठ वर्णों की है, जिसमें दीर्घ ईकार भी है। व्यक्ति पक्ष में तो इक् प्रत्याहार से इ उ ऋ लृ ह्रस्व ही लिए जायेंगे, अतः दीर्घ ईकार- ऊकार को यण् नहीं होगा। भट्टोजिदीक्षित ने उक्त सूत्र की प्रवृत्ति व्यक्तिपक्ष में हो, इसके लिए इक् पद में लक्षणा मानी है-

प्रत्याहारग्रहणेषु तद्वाच्यवाच्ये निरूढ़ा लक्षणा। प्रौ. म. अच्संप्र.

यहाँ तत् पद से इक् प्रत्याहार का ग्रहण होता है, जिसका वाच्य अर्थ है- इ, उ, ऋ, लृ और इनके प्रसिद्ध सजातीय वर्ण हैं- छियासठ। इन सबका बोधक इक् पद है। इस लोकप्रसिद्ध निरूढ़ा लक्षणा में प्रमाण महर्षि पाणिनि का 'ल्वादिभ्यः' (पा. सू. 8.2.44) सूत्र है, क्योंकि लू + आदि इस विग्रह में दीर्घ ऊकार को यण् हुआ है। इस प्रकार व्यक्तिपक्ष में भी इको यणचि सूत्र में इक् प्रत्याहार के द्वारा छियासठ इक् तथा यण् से सात का ग्रहण हो जाता है। जातिपक्ष में तो कोई प्रश्न ही नहीं है। वहाँ तो अण् और उदित् (कु, चु, टु, तु, पु,) अपने सजातीय वर्णों के बोधक होते ही हैं।

पाणिनि के सूत्रों की प्रवृत्ति जाति और व्यक्ति-इन दोनों पक्षों में होती है। प्रत्येक लक्ष्य के लिए अलग-अलग सूत्र की कल्पना व्यक्तिपक्ष है और एक सूत्र से सभी लक्ष्यों की सिद्धि का प्रकार जातिपक्ष है। इस बात की ओर संकेत करने के लिए ही यहाँ व्यक्ति में निरूढ़ा लक्षणा की चर्चा हुई है। यों तो सिद्धान्तरूप से वैयाकरण लक्षणा वृत्ति नहीं मानते हैं, किन्तु वे शक्ति के ही प्रसिद्धा और अप्रसिद्धा (प. म. ल.) ये दो भेद मानकर गङ्गायां घोषः के गङ्गापद का अप्रसिद्ध तट अर्थ समझ लेते हैं। यहाँ भी निरूढ़ा लक्षणा से भट्टोजिदीक्षित का तात्पर्य अप्रसिद्धा शक्ति से ही है। जिससे इक् पद का प्रसिद्ध संकेत इ उ ऋ ऌ- इन चार में और अप्रसिद्ध संकेत छियासठ में है।

3. योगदर्शन का प्रत्याहार पद

चित्त के व्यापारों को रोकना ही योग है (पायोद. सपा. 2) और योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि ये आठ अङ्ग हैं, (पायोद. सापा. 29) जिनमें इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर से समेटकर मन में विलीन

---

1. आद्यन्ताभ्यामवयवाभ्यामवयवी समुदाय आक्षिप्यते, तस्य च युगपल्लक्ष्ये प्रयोगाभावात्तदव-यवेष्ववतरन्ती संज्ञा मध्यगेषु विश्राम्यति। प्रौ. म. संप्र.

करने के अभ्यास का नाम ही प्रत्याहार है[1]। यहाँ इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से समेटनाकहा गया है, जो इन्द्रियों की अन्तर्मुखी अवस्था है। संक्षेप या संकोच के अर्थ में प्रत्याहार पद समान है। यद्यपि दोनों जगह भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रत्याहार पद पारिभाषिक है, फिर भी प्रत्याहार पद की व्युत्पत्ति से दोनों जगह एक अर्थ की प्रतीति होती है।

दूसरी बात यह है कि योग की सिद्धि में जिस प्रकार प्रत्याहार का विशेष स्थान है, इसीलिए योगशास्त्र के -

प्रत्याहारश्च तर्कश्च प्राणायामस्तृतीयकः।
समाधि र्धारणं ध्यानं षडङ्गो योगसङ्ग्रहः।।

इस श्लोक में योग के अङ्गों में प्रत्याहार का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है, उसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण में भी पदों की सिद्धि के लिए प्रत्याहार का विशेष महत्त्व है। अतः प्रत्याहार पद योगदर्शन और व्याकरणदर्शन में सवर्था सार्थक है।

4. पाणिनीय प्रत्याहार का आधार वर्णसमाम्नाय

वर्णसमाम्नाय पाणिनीय प्रत्याहारों का आधार है। (1.) अ इ उ ण् (2.) ऋ ऌ क् (3.) ए ओ ङ् (4.) ऐ औ च् (5.) ह य व र ट् (6.) ल ण् (7.) ञ म ङ ण न म् (8.) झ भ ञ् (9.) घ ढ ध ष् (10.) ज ब ग ड द श् (11.) ख फ छ ठ थ च ट त व् (12) क प य् (13.) श ष स र् (14.) ह ल्।

यह चतुर्दश सूत्रात्मक वर्णसमाम्नाय भगवान् शंकर के प्रसाद से महर्षि पाणिनि को प्राप्त हुआ है, जैसा कि शिक्षा में कहा गया है-

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।। पा. शि. 57

यह अक्षरसमाम्नाय अपौरुषेय है। इसका कर्त्ता कोई पुरुष विशेष नहीं है। यह तो महेश्वर के डमरु का निनाद है। भगवान् शंकर ने ताण्डव नृत्त के अन्त में डमरु बजाया, जिसका नाद महर्षि पाणिनि की प्रज्ञा में वर्ण-रूप से व्यक्त हो गया है। आचार्य नन्दिकेश्वर ने इस वर्णसमाम्नाय की दार्शनिक व्याख्या की है। उनका कहना है कि नटराजों के राजा भगवान् शंकर ने डमरु को चौदह बार बजाया, जिसका मुख्य प्रयोजन सनक-सनन्दन आदि सिद्धों का उद्धार करना था[2]। उनके दार्शनिक मतों का प्रतिपादन भी इस ग्रन्थ में आगे किया गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी इसके गौरव के विषय में कहा है-

सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्-प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते। म. भा. 1.1.2 आ.

वर्णसमाम्नाय ब्रह्मराशि है- अर्थात् ब्रह्म के समान इसकी भी नित्यता तथा व्यापकता सिद्ध

---

1. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। पायोद. सापा.54
2. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव पञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।

है। इसके मनन और चिन्तन से न केवल मनन करने वाला व्यक्ति ही पुण्य का भागी होता है, अपितु उसके माता-पिता भी स्वर्ग लोक में सम्मानित होते हैं।

इसी प्रकार आचार्य शाकटायन ने अपने ऋक्तन्त्र व्याकरण में इस वर्णसमाम्नाय के उपदेश की परम्परा को दिखाते हुए कहा है-

इदमक्षरच्छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तं यथाऽऽचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिरिन्द्रायेन्द्रो भारद्वाजाय भारद्वाज ऋषिभ्य ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयाद् ब्रह्मराशिः। ऋत. प्रप्र.

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि ज्ञान का आधार वाक्तत्त्व है, जो वर्ण के रूप में व्यक्त होता रहता है। ब्रह्मा बुद्धितत्त्व के अधिष्ठाता हैं, इसीलिए उनके द्वारा वर्णसमाम्नाय का आविर्भाव होना स्वाभाविक है। भगवान् शंकर भी ज्ञान के अधिष्ठाता हैं, अतः उनकी कृपा से महर्षि पाणिनि को वर्णसमाम्नाय का प्राप्त होना भी युक्तिसंगत है। ये चौदह सूत्रात्मक वर्णसमाम्नाय ही पाणिनीय प्रत्याहारों के आधार हैं।

5. वर्णमातृका एवं वर्णसमाम्नाय

(क) वर्णमातृका

वर्णमातृका वर्णसमाम्नाय से प्राचीन है, यह बात किमर्थो वर्णानामुपदेशः? इस प्रश्न के द्वारा प्रत्याहार-प्रयोजन में पहले सिद्ध हो चुकी है। अब यहाँ यह विचारणीय है कि वर्णमातृका और वर्णसमाम्नाय में क्या अन्तर है? समान्यतः वर्णमातृका में वर्ण दो प्रकार के होते हैं- स्वर और व्यञ्जन, जिन्हें वर्णसमाम्नाय में अच् और हल् - इन दो प्रत्याहारों से समझा जाता है। वर्णमातृका में इक्यावन वर्ण हैं, जिनमें अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः - ये सोलह स्वर और पैंतीस व्यञ्जन हैं,व्यञ्जनों में सात वर्ग हैं, जिनमें कवर्ग से लेकर पवर्ग तक पाँच-पाँच वर्णों-के पाँच वर्ग स्पर्श-संज्ञक हैं,जिनका विवरण निम्नलिखित है--

कवर्ग--	क ख ग घ ङ --	कण्ठस्थानीय
चवर्ग--	च छ ज झ ञ --	तालुस्थानीय
टवर्ग--	ट ठ ड ढ ण --	मूर्धास्थानीय
तवर्ग--	त थ द ध न --	दन्तस्थानीय
पवर्ग--	प फ ब भ म --	ओष्ठस्थानीय

वर्णमातृका में कवर्गादि के क्रमिक सन्निवेश-विशेष के कारण कण्ठादि स्थान हैं, क्योंकि मुख में सर्वोपरि स्थान कण्ठ का है, उसके बाद तालु का उसके आगे मूर्धा का। यहाँ मूर्धा शब्द से दाँतों का ऊपरी भाग विवक्षित है, उसके बाद नीचे दन्तस्थान है, फिर दोंनों ओष्ठ हैं।

इस प्रकार कवर्गादि पाँच वर्गों से सम्बन्धित पच्चीस व्यञ्जन वर्णों का क्रम मुख के पूर्वापर पाँच स्थानों के क्रम पर आधारित है। ये स्पर्शसंज्ञक तथा स्पृष्ट प्रयत्न वाले वर्ण हैं, क्योंकि इनके उच्चारण में जिह्वा के मूल, मध्य तथा अग्रभाग का स्पर्श कण्ठ,

तालु, मूर्धा आदि स्थानों में विशेष रूप से होता है।

यवर्ग में य र ल व- ये चार वर्ण आते हैं जो स्वर और व्यञ्जन वर्णों के मध्यवर्ती, हैं इसलिए ये अन्तःस्थसंज्ञक हैं। अन्तर् अव्ययसंज्ञक पद मध्य का बोधक है, अतः **अन्तः=मध्ये तिष्ठति** इस व्युत्पत्ति से अन्तःस्थ पद व्युत्पन्न होता है। इन वर्णों के उच्चारण में जीभ का हिलना-डुलना बहुत कम होता है, इसलिए ये ईषत्स्पृष्ट प्रयत्नवाले वर्ण माने गये हैं। इनका क्रम भी ताल्वादि स्थान क्रम के अनुसार ही है।

शवर्ग में श ष स ह- ये चार वर्ण ऊष्मसंज्ञक हैं, अर्थात् वायुप्रधान हैं। इनके उच्चारण में वायु का विशेष योग रहता है, जिनमें श ष स- ये तीन तो ताल्वादि स्थान-क्रम के द्योतक हैं, किन्तु ह वर्ण कण्ठस्थानीय है। वर्णमातृका का आदि वर्ण अ और अन्तिम वर्ण ह- ये दोनों ही कण्ठस्थानीय हैं। शिक्षाकार ने इन्हें **अहौ कण्ठ्यौ** कहा है। अ और ह वर्ण के समाहारद्वन्द्व से अहम् पद बनता है, जिसके दार्शनिक रहस्य का विशद विवेचन वर्णसमाम्नायरूप चौदह सूत्रों का दार्शनिक पक्ष नामक शीर्षक में किया गया है।

ळ या ळ्ह ध्वनि भी ऋग्वेद में सुनी जाती है, लोक में इसका प्रयोग नहीं होता है। जिसका संकेत पाणिनि के **साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे** (पा. सू. 6.3.113) सूत्र में है। प्रातिशाख्य में ळ और ळ्ह ध्वनि की व्याख्या इस प्रकार है कि दो स्वरों के बीच में डकार-ळ तथा ढकार--ळ्ह ध्वनि के रूप में उच्चरित होता है, जैसा कि पूर्वोक्त सूत्र की व्याख्या में भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है--

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्त इति। सि. कौ. वैप्र.

संयुक्त वर्ण क्ष त्र ज्ञ का प्रतिनिधिभूत क्ष अक्षर वर्णमाला में सुमेरु-स्थानीय है।

इस प्रकार अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग, शवर्ग और ळ्ह एवं क्ष को लेकर आगमशास्त्र में वर्णमातृका की संख्या इक्यावन प्रसिद्ध है।

(ख) वर्णसमाम्नाय

वर्णसमाम्नाय का क्रमिक उल्लेख पहले किया जा चुका है, जिसमें अ इ उ ण् ऋ ऌ क् आदि चार सूत्रों में नौ स्वर तथा ह य व र ट् से लेकर हल् इन दस सूत्रों में तैंतीस व्यञ्जन हैं। कुल मिलाकर बयालिस वर्ण हैं। स्वरों में अ इ उ- ये तीन समानाक्षर अर्थात् असंयुक्त वर्ण हैं और ऋ ऌ ए ऐ ओ औ - ये छः सन्ध्यक्षर। यद्यपि सामान्यतः अ+इ=ए, अ+ए=ऐ, अ+उ=ओ, अ+ओ=औ - इन चार वर्णों में संयुक्ताक्षर की स्पष्ट प्रतीति होती है, किन्तु तत्त्वतः पर्यालोचन करने पर ऋ और ऌ - ये दो वर्ण भी सन्ध्यक्षर की कोटि में आते हैं, क्योंकि ऋ और ऌ स्वर के उच्चारण में र् और ल् व्यञ्जन की ध्वनि भी सुनायी पड़ती है। इसीलिए अ इ उ ण्, ऋ ऌ क्- इन दो सूत्रों में वर्णों का सन्निवेश कण्ठ, तालु आदि स्थान-क्रम से भिन्न है। स्थान-क्रम के अनुसार तो अ इ के बाद ऋ ऌ को होना चाहिये था और अन्त में उ वर्ण, क्योंकि मुख में कण्ठ, तालु के बाद मूर्धा (दाँत का ऊपरी भाग) फिर दन्त और सबके अन्त में ओष्ठ हैं, किन्तु उक्त स्थान-क्रम को यहाँ ग्रहण न करने में यही कारण है कि अ इ उ - ये वर्ण एकाक्षर

हैं एवम् असंयुक्त हैं। इसलिए एकाक्षर वाले तीन वर्णों को एक सूत्र में रखने के बाद ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च् - इन तीन सूत्रों में सन्ध्यक्षर स्वरवर्णों का सन्निवेश हुआ है।

वर्णसमाम्नाय के इन स्वरवर्णों से सजातीय वर्णों का भी ग्रहण होता है, जैसा कि अवर्ण से दीर्घ आकार तथा अनुस्वार एवं विसर्गवाले अं एवम् अः भी समझे जाते हैं। इसी प्रकार इ, उ, ऋ, लृ से भी दीर्घ का बोध होता है। इसलिए वर्णमातृका में प्रसिद्ध पूर्वोक्त सोलह स्वरों से वर्णसमाम्नाय की स्वरसंख्या में कोई वैषम्य नहीं है। यों तो अ इ उ ऋ- प्रत्येक स्वरवर्ण के सजातीय भेद अठारह और ऌ ए ओ ऐ औ- के बारह हैं, जिनका विवेचन अच् और इक्- इन दो प्रत्याहारों के उदाहरणप्रसङ्ग में किया गया है।

व्यञ्जन वर्णों की संख्या तैंतीस तथा स्वरों की नौ है। वर्णमातृका के ळ्ह और क्ष का ग्रहण वर्णसमाम्नाय में नहीं है और ह-वर्ण का दो बार सन्निवेश है, अतः वर्णसमाम्नाय के वर्ण स्वरूपतः बयालिस हैं। वर्णसमाम्नाय में हकार को दो बार रखने का प्रयोजन सूत्रों की प्रवृत्ति के लिए प्रत्याहारों की सिद्धि है। अट्, हश् तथा शल्, वल्, रल् आदि प्रत्याहारों में पृथक्-पृथक् दोनों ह-वर्ण आते हैं, जिससे लक्ष्य की सिद्धि होती है। इन प्रत्याहारों का उदाहरण के साथ विशेष विवेचन आगे किया गया है। ळ या ळ्ह तो डकार और ढकार ही हैं, जो दो स्वरों के बीच में ध्वनि विशेष के रूप में उच्चरित होते हैं, जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

वर्णसमाम्नाय के व्यञ्जन वर्णों में संयुक्ताक्षर का सन्निवेश नहीं है, क्योंकि वल्, रल् आदि प्रत्याहारों से संयुक्त क्ष त्र ज्ञ आदि व्यञ्जन वर्णों में पूर्व वर्ण का ही बोध होता है, संयुक्तों का नहीं। इसलिए वर्णसमाम्नाय के बयालिस वर्णों से वर्णमातृका के पचास वर्ण लिए जाते हैं। अतएव वर्णमातृका तथा वर्णसमाम्नाय के वर्णों की संख्या में कोई वैषम्य नहीं है, किन्तु व्यञ्जन वर्णों के सन्निवेश-विशेष में वैषम्य है।

वर्णमातृका में वर्णों का सन्निवेश आरोहक्रम से और वर्णसमाम्नाय में अवरोहक्रम से है। अवरोहक्रम में पहले प्रत्येक वर्ग के पञ्चम वर्ण ञ म ङ ण न म् फिर चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय तथा प्रथम वर्ण सन्निविष्ट हैं, जो मुख्य रूप से प्रत्याहार एवं दार्शनिक अर्थ के द्योतक हैं।

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार वर्णों की संख्या तिरेसठ-चौंसठ है--

त्रिषष्टिश्चतुः षष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा।।
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः।।
अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵक ᳵपौ चापि पराश्रितौ।
दुःस्पृष्टश्चापि विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च ।। पा. शि 3-5

इनमें अ इ उ ऋ - ये चार स्वर वर्ण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से बारह और ह्रस्व लृकार तेरह तथा ए ऐ ओ औ - ये चार सन्ध्यक्षर दीर्घ - प्लुत के भेद से आठ प्रकार के होते हैं। तेरह समानाक्षर और आठ सन्ध्यक्षर मिलकर इक्कीस स्वर वर्ण हैं। व्यञ्जन वर्णों में वर्णसमाम्नाय के ञ म ङ ण न म् सूत्र के ञकार से क प य् इन

छः सूत्रों तक इत्संज्ञक वर्णों को छोड़कर स्पर्शसंज्ञक वर्ण पच्चीस हैं और अन्तःस्थसंज्ञक य व र ल तथा ऊष्मसंज्ञक श ष स ह- ये आठ वर्ण यादिगण से समझे जाते हैं। इनके अतिरिक्त चार यमसंज्ञक वर्ण हैं, जो प्रातिशाख्य में विशेष प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक वर्ग के पञ्चम वर्ण परे रहते पूर्व वर्ण को द्वित्व हो जाता है, जैसा कि पलिक्क्नीः, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः और घ्घ्नन्ति- ये चार उदाहरण प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय- ये अयोगवाह या दूसरे वर्णों के आश्रित चार वर्ण हैं। अयोगवाह का तात्पर्य है कि वर्णसमाम्नाय से इनका सम्बन्ध न होने पर भी अच् और शर् प्रत्याहार में इनका उपयोग होता है[1]। एक दुःस्पृष्ट संज्ञक ळ्ह है। इस प्रकार सब मिलाकर तिरेसठ वर्ण हुए। किसी के मत में लृ-स्वर प्लुत भी है। अतः वर्णों की संख्या चौंसठ हो जाती है।

इस प्रकार इक्कीस स्वर तथा अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय एवं कवर्गादि पच्चीस स्पर्शसंज्ञक, चार अन्तःस्थ, चार ऊष्म एवं चार यम-- ये बासठ वर्ण हुए। तिरेसठवाँ ळ्ह और चौंसठवाँ प्लुत लृकार है। मूलतः वर्णमातृका तथा वर्णसमाम्नाय की वर्णसंख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

(ग) स्वर और व्यञ्जन

पूर्वोक्त वर्णों के सामान्य रूप से दो विभाग हैं - एक स्वर और दूसरा व्यञ्जन। ये नाम सार्थक हैं क्योंकि- **स्वेन स्वयं वा राजन्ते इति स्वराः** इस निर्वचन के अनुसार जो किसी दूसरे वर्ण की सहायता के बिना भी स्वयं विराजमान हैं अर्थात् उच्चरित होते हैं, वे स्वर हैं और व्यञ्जन वर्णों के उच्चारण में स्वर का सम्बन्ध आवश्यक है, इसलिए उच्चारण की दृष्टि से व्यञ्जन परतन्त्र और स्वर स्वतन्त्र हैं। **व्यज्यते अनेन** इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जन पद सामान्यतः अर्थ की अभिव्यक्ति का साधन तो है, फिर भी व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण स्वर के अधीन है। इसलिए महर्षि पतञ्जलि ने व्यञ्जन वर्णों को नटभार्या कहा है-

> **व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति, तद्यथा--नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचःकार्यमुच्यते तं तं भजन्ते।** म. भा. 6.1.

अर्थात् जिस प्रकार नटभार्या-नर्तकी किसी न किसी नट के आश्रित रहती है, उसी प्रकार व्यञ्जन वर्ण भी किसी न किसी स्वर के अधीन ही रहते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वर के बिना व्यञ्जन का स्वतन्त्र रूप से उच्चारण सम्भव नहीं है। व्यञ्जन वर्ण के उच्चारण में आगे या पीछे किसी न किसी स्वर का होना आवश्यक है। जैसा कि क ख ग आदि व्यञ्जन वर्ण के उच्चारण में अकार ध्वनि की भी प्रतीति होती है, किन्तु अवर्ण के उच्चारण में दूसरे वर्ण की सहायता अपेक्षित नहीं है। इसलिए उच्चारण की दृष्टि

---

1. अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमुच्यते।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ।। पा. शि. 22
अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीययमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यातत्वेनानुस्वारस्याप्यच्त्वात्। सि. कौ. हल्स.

से स्वर स्वतन्त्र हैं और व्यञ्जन नटभार्या के समान परतन्त्र। वर्णमाला के स्वर और व्यञ्जन भेद वर्णसमाम्नाय में अच् और हल् प्रत्यहार से भी समझे जाते हैं।

(घ) अच् और हल्

पाणिनीय व्याकरण में स्वर-व्यञ्जन के लिए अच् और हल् का ही विशेष उपयोग हुआ है, क्योंकि पाणिनीय व्याकरण की आधारभूमि वर्णसमाम्नाय ही है, जिस पर प्रत्याहारों की कल्पना से पाणिनीय व्याकरण के कुछ सूत्रों में वर्णमातृका के क्रम का भी उल्लेख है, जो कु चु टु तु पु के रूप में व्यवहृत हुआ है। कु चु टु तु पु- ये उदित्संज्ञक हैं, इसीलिए इनसे अपने-अपने वर्ग के वर्णों का बोध होता है, जिसका संकेत पाणिनीय व्याकरण के अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः (पा. सू. 1.1.69) सूत्र में हुआ है। इस सूत्र में अण् प्रत्याहार है, जिससे अ इ उ ण् सूत्र के अकार से लेकर लण् सूत्र के लकार तक अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह् य् व् र् ल्- इन वर्णों का बोध होता है। इसी प्रकार सूत्रोक्त उदित्शब्द से उकार इत्संज्ञक कु चु टु तु पु - इन वर्णों के सजातीय पाँच वर्णों का बोध होता है। अतः इस सूत्र से वर्णसमाम्नाय-क्रम के साथ वर्णमातृकाक्रम भी पाणिनीय-व्याकरण में व्यवहृत हुआ है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

यहाँ वर्णमातृका के पञ्चवर्गीय उदित्संज्ञक कु चु टु तु पु - से सम्बधित सूत्रों का परिचय उदाहरण के साथ क्रमशः प्रस्तुत है-

	सूत्र		उदाहरण
1	क्विन्प्रत्ययस्य कुः	8.2.62	युङ्
2	लशक्वतद्धिते	1.3.8	गत्वा, गतः
3	चजोः कुः घिण्ण्यतोः	7.3.52	पाक्यम्, मार्ग्यः
4	इण्कोः	8.3.57	वक्ष्यति, रामेषु
5	कुमति च	8.4.13	हरिकामेण
6	कुहोश्चुः	7.4.62	एधाञ्चक्रे
7	चोः कुः	8.2.30	सुयुक्-सुयुग्
8	ष्टुना ष्टुः	8.4.40	तट्टीकते, रामष्षष्ठः
9	न पदान्ताट्टोरनाम्	8.4.41	षट्ते, षट्सन्तः
10	चुटू	1.3.7.	रामाः, रामेण
11	स्तोः श्चुना श्चुः	8.4.39	सच्चित्, रामश्शेते
12	तोर्लि	8.4.59	तल्लयः
13	तोः षि	8.4.42	सन्षष्ठः
14	पोरदुपधात्	3.1.98	शप्यम्, लभ्यम्
15	कुप्वोः ≍क ≍पौ च	8.3.37	नॄँ≍ पाहि, नॄं≍ पाहि, नॄँः पाहि, नॄंः पाहि, नॄन्पाहि

उदित्वर्णों से युक्त ये सूत्र प्रायः विधिसूत्र हैं। केवल लशक्वतद्धिते तथा चुटू- ये दो संज्ञासूत्र

और इण्कोः अधिकार सूत्र है। इन तीन सूत्रों के अतिरिक्त जहाँ कहीं भी कु, चु आदि उदित् वर्ण पूर्वोक्त सूत्रों में प्रयुक्त हुए हैं, वे उद्देश्य, विधेय तथा निमित्त के रूप में मिलते हैं, जैसा कि तोर्लि, तोः षि, पोरदुपधात्- इन तीन सूत्रों में तु पु का उद्देश्यत्व स्पष्ट है। क्विन्प्रत्ययस्य कुः, स्तोः श्चुना श्चुः, ष्टुना ष्टुः- इनमें कु चु टु- ये विधेय हैं एवं कुप्वोः क पौ च, कुमति च- इन दो सूत्रों में कु-पु केवल निमित्त के बोधक हैं। इन सूत्रों की संख्या केवल पन्द्रह है। इन सूत्रों में इण्कोः सूत्र के अलावा किसी सूत्र में प्रत्याहार का योग नहीं है, अपितु कुछ सूत्र तो केवल उदित् वर्णों वाले ही हैं, जैसे- चोः कुः, चुटू इत्यादि। वर्णसमाम्नाय वाले केवल प्रत्याहारात्मक सूत्र तो इको यणचि, झलो झलि, झलां जश् झशि आदि अनेक हैं, जिनका विवेचन तृतीय प्रभा में किया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पाणिनीय सूत्रों में वर्णसमाम्नाय से बने हुए प्रत्याहारों के योग के अतिरिक्त वर्णमातृका के क्रम का भी उपयोग हुआ है, जिससे पाणिनि की सूत्ररचनाशैली विशेष परिमार्जित हुई है।

6. वर्णसमाम्नायरूप चौदह सूत्रों में अनुबन्ध

वर्णसमाम्नायरूप चौदह सूत्रों में प्रत्येक सूत्र के अन्तिम व्यञ्जन वर्ण को अनुवन्ध कहा गया है। वर्णसमाम्नाय सामान्यतः अच् और हल् प्रत्याहार के रूप में विभक्त है, जिसमें अच् प्रत्याहार अर्थात् स्वर वर्णवाले चार सूत्र तथा हल् प्रत्याहार अर्थात् व्यञ्जन वर्णवाले दस सूत्र हैं। प्रथम के अ इ उ ण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्- इन चार सूत्रों में अन्तिम वर्ण व्यञ्जन अनुवन्ध हैं तथा व्यञ्जन वर्णवाले दस सूत्रों में भी अन्तिम वर्ण व्यञ्जन ही अनुवन्ध हैं। यहाँ अनुवन्धों में व्यञ्जन वर्ण का ही सन्निवेश हुआ है स्वर का नहीं। यद्यपि महाभाष्य के प्रदीप-टीकाकार कैयट ने लण् सूत्र के अकार-स्वर को अनुवन्ध मानकर र-प्रत्याहार की सिद्धि की है, किन्तु वह युक्तिसंगत नहीं है। इसीलिए नागेश भट्ट ने र-प्रत्याहार का खण्डन किया है जिसका विशेष विवेचन प्रत्याहारों की संख्या नामक द्वितीय प्रभा में किया गया है।

(क) चौदह अनुबन्ध

चौदह सूत्रों से सम्बन्धित चौदह अनुबन्धों का क्रमशः परिचय इस प्रकार है- ण् क् ङ् च् ट् ण् म् ञ् ष् श् व् य् र् ल्। इनमें त-वर्ग के अतिरिक्त सभी वर्गों के एक या दो वर्ण प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें कवर्ग का क् ङ्, चवर्ग का च् ञ्, टवर्ग का ट्,ण् तथा पवर्ग का केवल म् है। यवर्ग के य् व् र् ल् ये चारों वर्ण और शवर्ग के श् ष्- ये दो वर्ण हैं। अइउण् तथा लण् इन दो सूत्रों में एक ही अनुवन्ध है, जिससे अण् और इण् प्रत्याहार के विषय में सन्देह उपस्थित होता है कि अण् प्रत्याहार पूर्व णकार तक माना जाय या पर णकार तक, जिसका निर्णय व्याख्यान के द्वारा होता है। इसका उल्लेख लण् सूत्र के भाष्य में है। आचार्य कात्यायन के व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः इस वार्तिक का भाष्य करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है- एतज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा-व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति। अणुदित्सवर्णस्य-इत्येतत्परिहाय पूर्वेणाण् ग्रहणम्, परेणेण्ग्रहणम् इति व्याख्यास्यामः।

व्याख्यान में ज्ञापक और उपदेश-परम्परा को प्रस्तुत किया जाता है, जैसा कि **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** (पा.सू. 6.3.111) सूत्र में अण् ग्रहण ज्ञापक है, क्योंकि पर णकार तक अण् प्रत्याहार का सम्वन्ध होने पर तृढः, वृढः में भी दीर्घ होने लगता है, जो अभीष्ट नहीं है। इसीलिए अणः किम्? तृढः वृढः को सूत्र के प्रत्युदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। केवल **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (पा.सू 1.1.69) इस सूत्र में ही अण् प्रत्याहार पर णकार तक माना जाता है इसके अतिरिक्त अण् प्रत्याहार पूर्व णकार तक और इण् प्रत्याहार तो सब जगह पर णकार तक ही गृहीत होता है जैसा कि इस विषय में-

परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु।।

यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है। अनुबन्ध में दो णकारों के कारण व्याकरण शास्त्र से सम्वन्धित सभी सन्देहों को दूर करने के लिए **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहाद-लक्षणम्** (परि.1.) एक सामान्य परिभाषा की सिद्धि हुई। इसलिए सूत्रार्थ में जहाँ कहीं सन्देह होता है, वहाँ व्याख्यान के द्वारा निर्णय किया जाता है। निष्कर्ष यह है कि दो णकारों का अनुबन्ध प्रत्याहारों के लिए जानबूझ कर किया गया है।

(ख) अनुबन्ध में तवर्ग के अभाव का कारण

चौदह सूत्रों में चौदह अनुबन्ध हैं, जिनमें कवर्ग, चवर्ग और टवर्ग के प्रथम एवं पञ्चम वर्ण प्रयुक्त हैं। इनमें भी टवर्ग के पञ्चम वर्ण णकार का दो बार प्रयोग हुआ है, जिसका प्रयोजन अभी पूर्व में बताया गया। इन तीन वर्गों के अतिरिक्त पवर्ग का केवल पञ्चम वर्ण म् अनुवन्ध है, किन्तु तवर्ग का कोई वर्ण अनुबन्ध में नहीं है। अतः जिज्ञासा होती है कि इसका क्या कारण है? इसके समाधान में केवल स्वतन्त्रः कर्ता–आचार्य की इच्छा को ही कारण मान लेना सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि किसी वर्ग के दो वर्ण तथा किसी वर्ण को दो बार अनुबन्ध के रूप में रखने का यदि प्रयोजन है, तो तवर्ग का अनुबन्ध के रूप में स्वीकार न करने का भी कारण अवश्य होगा। पाणिनीय व्याकरण में तवर्ग का तकार और नकार अनुबन्ध के रूप में न हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि **तव्यत्तव्यानीयरः** (पा.सू. 3.1.96) **व्यन्सपत्ने** (पा.सू. 4.1.145) आदि सूत्रों में तव्यत् और व्यन् प्रत्यय के तकार एवं नकार को अनुबन्ध माना गया है, जिसका प्रयोजन स्वरित और आद्युदात्त है। इसलिए जब वर्णसमाम्नाय में अन्य वर्गों के प्रथम और पञ्चम वर्णों का अनुबन्ध में स्थान है तो फिर तवर्ग का स्थान क्यों नहीं?

इस विषय में ज्ञात होता है कि तवर्ग के प्रथम वर्ण तकार को अनुबन्ध कोटि में रखने से यदि अण् प्रत्याहार की जगह अत् प्रत्याहार की कल्पना की जाय तो **अतो दीर्घो यञि** (पा.सू. 7.3.101) सूत्र में प्रयुक्त अत् में भी प्रत्याहार का भ्रम होने से हरिभ्याम्, भानुभ्याम् आदि में भी **सुपि च** (पा.सू. 7.3.102) सूत्र से दीर्घ होना चाहिये। क्योंकि अत् प्रत्याहार के भीतर इ और उ वर्ण भी हैं।

दूसरी बात यह भी है कि **अल्लोपोऽनः** (पा.सू. 6.4.134) इस सूत्र से राजन्,

तक्षन् आदि शब्दों में भसंज्ञक अन् के अकार का लोप होने से राज्ञः, तक्ष्णः आदि पद बनते हैं। वहाँ भी अत् और अन् में प्रत्याहार का भ्रम सम्भव है, जिससे चक्रिणः, दण्डिनः में भी इकार का लोप होने लगेगा। इसलिए अत्रन्त और इन्नन्त पदों की प्रक्रिया-सिद्धि को दृष्टि में रखकर ही तवर्ग के तकार और नकार को प्रत्याहार के लिए अनुबन्ध नहीं माना गया है। यह तो स्पष्ट है कि पाणिनीय व्याकरण की प्रक्रिया-शैली का विशेष आधार प्रत्याहार ही है और प्रत्याहारों एवं सूत्रों के निर्माण में शिष्ट-प्रयुक्त पद ही आधार हैं। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि का उद्घोष है कि व्याकरण के द्वारा शिष्ट-प्रयुक्त पदों की ही सिद्धि होती है[1] अशिष्ट-प्रयुक्त पदों की नहीं। इसलिए अत् और अन् को प्रत्याहार मान लेने पर पूर्वोक्त हरिभ्याम्, भानुभ्याम् तथा दण्डिनः, चक्रिणः आदि शिष्ट-प्रयुक्त पदों की प्रक्रिया सन्देहात्मक हो जायेगी। इस दूरदर्शिता से तवर्ग के तकार तथा नकार वर्ण को प्रत्याहार के लिए अनुबन्ध नहीं माना गया है।

(ग) अनुबन्ध- अवयव या अनवयव

अनुबन्ध इत्संज्ञक हैं, इसलिए उनका प्रत्याहार में ग्रहण नहीं होता, यह बात पहले कही गयी है, क्योंकि इत्संज्ञक वर्णों का लोप हो जाता है[2]। लोप शब्द का अर्थ है- वर्णों अदर्शन, जिसके लिए पाणिनि का सूत्र है **अदर्शनं लोपः** (पा.सू. 1.1.60) फिर भी व्याकरण शास्त्र में सामान्यतः इत्संज्ञक वर्णों के विषय में यह सन्देह होता है कि वे अवयव हैं या अनवयव। जैसा कि जस् के स्थान में होने वाला आदेश शी का इत्संज्ञक शकार तथा तव्यत् प्रत्यय का इत्संज्ञक तकार अवयव है या अनवयव? यह प्रश्न वर्णसमाम्नाय के अनुबन्ध के विषय में भी है। भाष्यकार पतञ्जलि ने अवयव पक्ष को ही उचित माना है, क्योंकि अनवयव मानने पर चुटू एवं लशक्वतद्धिते आदि सूत्रों से प्रत्यय के आदि में विद्यमान ण्, श्, क् आदि वर्णों की इत्संज्ञा नहीं होगी। आदित्व और अन्तत्व का व्यवहार अवयव में ही होता है, अनवयव में नहीं, इसलिए शास्त्रप्रक्रिया निर्वाह के लिए इत्संज्ञक अनुबन्ध को अवयव मानना युक्तिसंगत है। नागेश भट्ट ने **अनेकान्ता अनुबन्धाः** (परि. 4) इस परिभाषा की व्याख्या में इत्संज्ञक अनुबन्ध को तर्क के द्वारा अनवयव पक्ष को उपस्थित कर सिद्धान्त रूप से अवयव पक्ष का समर्थन किया है। प्रकृत विषय से सम्बद्ध न होने के कारण यहाँ उसे प्रस्तुत करना अप्रासङ्गिक होगा।

प्रकृत में निष्कर्ष यह है कि प्रत्याहारों की सिद्धि अनुबन्ध के बिना सम्भव नहीं, इसलिए प्रत्याहार में भले उनका दर्शन न हो, किन्तु प्रत्याहार का व्यवहार अनुबन्ध के बिना सम्भव नहीं। अतएव अवयव न होते हुए भी अवयव के समान होने से अनुबन्ध में अवयवत्व का व्यवहार होता है। इसीलिए तस्य लोपः इस सूत्र के भाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने स्पष्ट कहा है कि- **एकान्ता अनुबन्धा इत्येव न्याय्यमिति** (मभा. 1.3.9)

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि इत्संज्ञक वर्णों का लोप हो जाता है फिर भी उन्हें शास्त्रप्रक्रिया की प्रवृत्ति में सौकर्य के लिए अवयव मानना ही युक्तिसंगत है।

1. प्रयुक्तानां पदानामन्वाख्यानं भवति।
2. तस्य लोपः, पा. सू. 1.3.9

द्वितीय प्रभा

प्रत्याहारों की संख्या तथा वर्गीकरण

1. वर्णसमाम्नाय से सम्बद्ध प्रत्याहार

यह बात पहले कही गई है कि वर्णसमाम्नाय को चौदह सूत्रों में बाँधने वाले चौदह अनुबन्ध हैं, जिनका मुख्य प्रयोजन प्रत्याहारों की सिद्धि है। अब किस अनुबन्ध से कितने प्रत्याहार बनते हैं तथा प्रत्याहारों की संख्या कितनी है इसका विवरण यहाँ प्रस्तुत है। महर्षि पाणिनि के अनुसार वर्णसमाम्नाय से सम्वद्ध प्रत्याहारों की संख्या इकतालिस है, जिनका उल्लेख हरिदीक्षित ने निम्नलिखित कारिका में किया है-

एकस्मान् ङञणवटा, द्वाभ्यां षः, त्रिभ्य एव कणमाःस्युः।

ज्ञेयौ चयौ चतुर्भ्यः, रः पञ्चभ्यः, शलौ षड्भ्यः।। श. र. संप्र.

इसमें किस अनुवन्ध से कितने प्रत्याहार बनते हैं इसका संकेत है। तात्पर्य यह है कि- ङ ञ ण व ट- इन अनुबन्धों से केवल एक-एक-एङ्, यञ्, अण्, छव्, अट्-ये पाँच प्रत्याहार बनते हैं। मूर्धन्य षकाररूप अनुबन्ध के झष्, भष्- ये दो प्रत्याहार हैं। क ण म-इन अनुबन्धों से तीन-तीन प्रत्याहार सिद्ध होते हैं। उनमें क से अक्, इक्, उक् और ण से अण्, इण् यण् तथा म से अम्, यम्, ङम्- ये प्रत्याहार निष्पन्न होते हैं। चकार अनुबन्ध से सम्वन्धित चार प्रत्याहार- अच्, इच् एच्, ऐच् हैं। इसी प्रकार यकार अनुवन्ध से भी यय्, मय्, झय्, खय्- ये चार तथा रेफ अनुबन्ध से यर्, झर्, खर्, चर्, शर्- ये पाँच एवं शकार अनुबन्ध से अश्, हश्, वश्, झश् जश्, बश् एवं लकार अनुबन्ध का सम्बन्ध अल्, हल्, वल्, रल्, झल् शल्-इन छः प्रत्याहारों से है।

इस प्रकार पाणिनि के अनुसार वर्णसमाम्नाय से सम्बन्धित इकतालिस प्रत्याहार हैं, जिनका उल्लेख पाणिनि के सूत्रों में हुआ है। उन सबका उदाहरणपूर्वक विवेचन तृतीय प्रभा में किया गया है।

(क) चय् प्रत्याहार

यकार अनुबन्ध से यय्, मय्, झय्, खय्- इन चार प्रत्याहारों का सम्बन्ध बताया गया है। इसके अतिरिक्त वार्तिककार आचार्य कात्यायन ने 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्कर-सादेरिति वाच्यम्' इस वार्तिक में चय् प्रत्याहार का भी उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य है कि पौष्करसादि आचार्य के मत में शर् अर्थात् श, ष, स वर्ण यदि पर में हो तो चय् प्रत्याहार अर्थात् च, ट, त, क, प- वर्ण को क्रमशः द्वितीय वर्ण छ, ठ, थ, ख, फ हो जाता है, जिससे वत्सरः का वथ्सरः, अप्सराः का अफ्सराः उच्चारण होता है।

आचार्य पौष्करसादि का समय पाणिनि से भी पहले है, क्योंकि पुष्करसद् शब्द का पाठ पाणिनि के अनुशतकादि गण में है। पुष्करसद् के अपत्य होने के कारण इन्हें पौष्करसादि कहते हैं। पुष्कर और सद् इन दोनों पदों में वृद्धि होती है, इससे स्पष्ट है कि पाणिनि से पहले पौष्करसादि शब्द अपने अर्थ में प्रयुक्त था, जिसके अन्वाख्यान के लिए पाणिनि ने अपने गणपाठ में उसे रखा। जिसकी व्याख्या

में यज्ञेश्वर भट्ट ने- पुष्करे तीर्थविशेषे सीदतीति पुष्करसत्, तस्यापत्यं पौष्करसादि[1]: कहा है। इनके मतानुसार पौष्करसादि पुष्कर तीर्थ-निवासी सिद्ध होते हैं। पदमञ्जरीकार हरदत्त ने तो इन्हें पूर्व देश का निवासी माना है[2]। इनके जन्मस्थान के विषय में विवाद हो सकता है किन्तु ये पाणिनि से प्राचीन तथा कृष्णयजुर्वेद की किसी एक शाखा के प्रवचनकर्त्ता थे, यह बात निश्चित है। जिससे शाखा भेद में उच्चारण भेद होने के कारण पूर्वोक्त वथूसरः और अफ्सराः पद का होना सम्भव है। इसीलिए कात्यायन ने भी अपने वार्तिक में उनके नाम के साथ चयू प्रत्याहार का उल्लेख किया है।

निष्कर्ष यह है कि चयू प्रत्याहार किसी विशेष शाखा से सम्बन्ध रखने वाले पदों की सिद्धि के लिए ही है सामान्य लौकिक पदों की सिद्धि के लिए नहीं। लौकिक संस्कृत में तो वत्सरः, अप्सराः पद का ही प्रयोग प्रचलित है। इसलिए पाणिनि के सूत्रों में चयू प्रत्याहार की चर्चा नहीं है।

(ख) ञमू प्रत्याहार

सिद्धान्तकौमुदी के टीकाकार वासुदेव दीक्षित[3] ने तो ञमू प्रत्याहार की कल्पना की है जो सिद्धान्ततः समुचित नहीं है। इनकी कल्पना का आधार है उणादि प्रकरण का ञमन्ताड्डः (उप्र. 111) सूत्र। कृदन्त-उणादिप्रत्यय का सम्बन्ध धातु से है, इसलिए उनके अनुसार सूत्र का अर्थ है- ञमू अर्थात् ञ म ङ ण न- वर्ण यदि धातु के अन्त में हो तो उनसे ड-प्रत्यय होता है। जिसके उदाहरण में दण्डः, खण्डः, षण्डः - ये पद प्रस्तुत किये जाते हैं। पाणिनि ने तो इन्हें अव्युत्पन्न अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय से रहित माना है, क्योंकि उन्होंने उणादयो बहुलम् (पा. सू. 3.3.1) इस सूत्र के द्वारा इस प्रकार के शब्दों की सिद्धि पर बल नहीं दिया है। उनके अनुसार ये शब्द रूढ़ हैं, इसलिए मकार अनुबन्ध से बनने वाले अमू, यमू, ङमू-इन तीन प्रत्याहारों के अतिरिक्त ञमू प्रत्याहार का सम्बन्ध पाणिनीय व्याकरण में नहीं है।

जिनके मतानुसार सभी संज्ञाशब्द यौगिक हैं, उन्होंने ही उणादि सूत्रों का निर्माण किया है। उणादि सूत्रों के रचयिता आचार्य शाकटायन माने जाते हैं। उनकी प्रतिज्ञा है कि सभी संज्ञाशब्द व्युत्पन्न (प्रकृति-प्रत्यय से बने) हैं। जिसका उल्लेख निरुक्तकार आचार्य यास्क ने किया है-

1. पाणिनि के गणपाठ की व्याख्या 'गणरत्नावली'
2. काशिका की टीका पदमञ्जरी भाग 1. पृ. 409
3. अकारेण एको र-प्रत्याहार इति वार्णसमाम्नायिकाः प्रत्याहाराश्चतुश्चत्वारिंशत्, एतेषामेव शास्त्रे उपयोगात्। इङ् इत्यादि प्रत्याहारास्तु प्रयोजनाभावान्न भवन्ति, शास्त्रे तद्व्यवहाराभावात्। अत्रास्मदीया संग्रहकारिका-
   स्यादेको ञ्णवटैः षेण द्वौ त्रय इह कणाभ्याम्।
   चत्वारश्च चमाभ्यां पञ्च यराभ्यां शलाभ्यां षट्।। सि. कौ. बा. संप्र.

'तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च[1]'

वहीं आचार्य गार्ग्य ने इसका प्रतिवाद भी किया है-

'न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके[2]।'

यास्क का समय पाणिनि से लगभग दो सौ वर्ष पहले माना जाता है। यास्क ने शाकटायन और गार्ग्य के मतों का निरुक्त में उल्लेख किया है, इसलिए ये दोनों आचार्य यास्क से भी पूर्व के हैं। इससे सिद्ध होता है कि संज्ञाशब्दों के व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न की चर्चा बहुत प्राचीन है। महर्षि पाणिनि ने समन्वयात्मक दृष्टि से संज्ञाशब्द को व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न भी माना है। इसीलिए उन्होंने प्रातिपदिकसंज्ञा के लिए दो सूत्रों की रचना की है- अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (पा. सू. 1. 2. 45)

कृत्तद्धितसमासाश्च (पा. सू. 1. 2. 46)

पहले सूत्र से मणि, नूपुर तथा पूर्वोक्त दण्ड, षण्ड आदि अव्युत्पन्न संज्ञाशब्द प्रातिपदिकसंज्ञक होते हैं, और दूसरे सूत्र से पाचक, पाठक आदि व्युत्पन्न संज्ञाशब्द प्रातिपदिकसंज्ञक होते हैं। वस्तुतः सिद्धान्त पक्ष यही है, इसीलिए वार्तिककार कात्यायन तथा भाष्यकार पतञ्जलि ने भी 'उणादयो ह्यव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' कहा है।

प्रकृत में वासुदेव दीक्षित ने जो ञमन्ताड्डः इस उणादि सूत्र के आधार पर ञम् प्रत्याहार की कल्पना की है वह आधार युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उणादि-प्रत्ययों की प्रकृति धातु है। धातु से होने वाले प्रत्यय तिङ् और कृत् हैं। उणादि कृत्-प्रत्यय के अन्तर्गत है, अतः धातु से होनेवाले कृदन्त प्रत्ययों की प्रक्रिया में अन्त पद के साथ प्रत्याहार का उपयोग नहीं हुआ है। क्योंकि जहाँ कहीं भी धातु से विहित प्रत्ययवाले सूत्रों में अजादि प्रत्याहार का उपयोग हुआ है, वहाँ वह प्रत्याहार धातु का विशेषण होने के कारण तदन्तरूपता को स्वयं प्राप्त हो जाता है, जैसा कि अचो यत्, हलश्च-इन सूत्रों के द्वारा अजन्त और हलन्त धातु से यत् तथा घञ्प्रत्यय का विधान है उसी प्रकार यदि ञमन्ताड्डः इस सूत्र में ञम् प्रत्याहार होता तो, ञमो डः सूत्र का स्वरूप होता, जिसका अर्थ 'ञमन्त धातु से ड-प्रत्यय हो' ऐसा हो जाता।

दूसरी बात यह भी है कि महर्षि पाणिनि के पहले प्रत्याहार-शैली नहीं मिलती। पाणिनि ने ही सर्वप्रथम वर्णसमाम्नाय के माध्यम से प्रत्याहारशैली की उद्भावना की है और उणादि सूत्र के रचयिता आचार्य शाकटायन तो पाणिनि तथा आचार्य यास्क से भी

---

1. 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम्'
   अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यम्? यत्र विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्। प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या।
   संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
   कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु।। म. भा. 3.3 आ. 1
2. गार्ग्य ने अपने मत की पुष्टि के लिए निरुक्त के पक्ष में दोष को दिखाते हुए कहा है-
   'अथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्।' नि.नै. का.

पहले थे। इसलिए ञमन्ताड्डः इस सूत्र में ञम् प्रत्याहार की कल्पना असंगत जान पड़ती है। यदि प्रत्याहार-शैली का प्रचलन होता तो, उनके अन्य सूत्रों में भी किसी न किसी प्रत्याहार का उल्लेख अवश्य होता। केवल एक सूत्र को लेकर ञम् प्रत्याहार को मानना तो प्रत्याहार-पद्धति के मूल स्रोत को अज्ञात समझना है। अतः ज्ञात होता है कि ञमन्ताड्डः इस सूत्र का मूल-स्वरूप वर्णमातृका के क्रमानुसार णनमन्ताड्डः है, जो लिपिदोष से ञमन्ताड्डः के रूप में परिणत हो गया है। इसलिए भट्टोजिदीक्षित ने भी इस सूत्र के उदाहरण में ञम् प्रत्याहार का क्रम नहीं रखा।

(ग) र-प्रत्याहार

र प्रत्याहार से र और ल का बोध होता है। 'हयवरट्' सूत्र के रेफ और 'लण्' सूत्र के ल के अकार को इत्संज्ञक मानकर र-प्रत्याहार बनता है। यद्यपि 'हयवरट्' आदि वर्णसमाम्नाय के दस सूत्रों में अकार-ध्वनि केवल उच्चारण के लिए ही है, अतः इनकी इत्संज्ञा नहीं होती, किन्तु महाभाष्य के प्राचीन टीकाकार भर्तृहरि एवं कैयट ने ल के अकार को अनुनासिक मानकर इत्संज्ञा के द्वारा र-प्रत्याहार की सिद्धि की है। जैसा कि 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इस सूत्र के लृकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि महाभाष्य के इस अंश की व्याख्या में लपरत्वम् का तात्पर्य भर्तृहरि ने कहा है-

व्याख्यास्यामीत्यर्थः। कथम्? प्रत्याहारे रट् लणिति लकारे योऽकार असावनुनासिकः प्रतिज्ञास्यते। अतः स्वेनान्येनेतरदिति रेफ आदिस्तन्मध्यस्थस्यापि संज्ञा भविष्यतीति 'उरण् रपरः' (पा. सू. 1. 1. 51) इति रेफः तन्मध्यस्थं लकारं प्रत्याययति। (मभा. भर्तृह. 1. 1. आ. 4)

इसी आधार पर आचार्य कैयट ने भी महाभाष्य की टीका प्रदीप में कहा है कि- लपरत्वमिति व्याख्यास्यामीत्यर्थः। रपर इत्यत्र र इति लणिति लकाराकारेण प्रत्याहार आश्रीयते। तत्रान्तरतम्याद् ऋकारस्याण्-रपरः, लृकारस्य लपर इति (मभा. प्रदी. 1.1 आ 4.)

इन दो टीकाकारों के आधार पर भट्टोजिदीक्षित ने हकारादि वर्णों में अकार को उच्चारणार्थक मानते हुए भी 'लण्' सूत्र के अकार को इत्संज्ञक कहा है-हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः, लण् मध्ये त्वित्संज्ञकः (सि. कौ. संप्र.) इसके विपरीत नागेश भट्ट ने तो महाभाष्य की टीका उद्योत में लिखा है·

अन्ये तु लण्सूत्रस्थाऽकारस्यानुनासिकत्वेऽतो ल्रान्तस्येत्यत्र भगवान् लकारं नोच्चारयेत् प्रत्याहारेणैव निर्वाहात्। तस्मादपूर्ववचनं कार्यमित्येव भाष्याशय उचित इत्याहुरिति।

अर्थात् उनका यहाँ कहना है कि यदि र-प्रत्याहार होता तो उरण् रपरः इस सूत्र के समान ही अतो ल्रान्तस्य (पा. सू. 7. 2. 2) इस सूत्र की जगह पर अतो रान्तस्य इस पाठ से ही लकार का भी ग्रहण हो जाता, पुनः महर्षि पाणिनि के इस सूत्र में लकारोच्चारण की क्या आवश्यकता? यदि आप यह कहें कि यहाँ लकारोच्चारण से र-प्रत्याहार अनित्य है, अर्थात् कहीं र वर्ण से र और ल का बोध होगा और कहीं केवल रेफ का, इसलिए उरण् रपरः में र-प्रत्याहार मान्य है और अतो ल्रान्तस्य में र-प्रत्याहार अभिप्रेत नहीं

है। किन्तु यह अनित्यवाद ठीक नहीं है क्योंकि संज्ञाओं में अनित्यत्व का व्यवहार नहीं होता है, अतः महाभाष्यकार के "लपरत्वं वक्ष्यामि" का तात्पर्य है कि उरण् रपरः इस सूत्र में रपर को लपर के रूप में भी स्पष्ट व्याख्या करुँगा।

दूसरी बात यह है कि "लण्" सूत्र के अकार को इत्संज्ञक मानने पर र-प्रत्याहार के समान ही हयवरट् सूत्र के यकार से लण् सूत्र के अकार तक य-प्रत्याहार की सिद्धि से यण्-प्रत्याहार घटित इको यणचि, इग्यणः सम्प्रसारणम् आदि अनेक सूत्रों में य-प्रत्याहार से भी कार्य सिद्ध हो जाता, पुनः महर्षि पाणिनि के यण्-प्रत्याहार की कल्पना गौरवग्रस्त हो जाती है। य-प्रत्याहार में आधी मात्रा का लाघव है और लाघव-प्रक्रिया ही प्रत्याहारों की कल्पना का मुख्य उद्देश्य है, (ल. शे. संप्र. पृ. 10) किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि प्रत्याहारों का अन्तिम वर्ण व्यञ्जन ही होता है, स्वर नहीं। व्यञ्जन में स्वर तो केवल उच्चारण के लिए होता है। क्योंकि स्वर वर्ण की सहायता के बिना व्यञ्जन वर्ण का उच्चारण नहीं होता, जैसा कि महाभाष्यकार ने कहा है-

नांच विना व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवतीति। मभा. 1. 2. 29

इसलिए उच्चारण के अतिरिक्त लण् सूत्र में विद्यमान अकार को अनुनासिक मानना युक्तिसंगत नहीं है। वर्णसमाम्नाय के वर्णों के सन्निवेशक्रम की महत्ता के विषय में महाभाष्यकार का स्पष्ट वचन है-

एषा ह्याचार्यस्य शैली परिलक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति अचोऽक्षु, हलो हल्षु। मभा. प्र. आ.

इससे स्पष्ट है कि लण् सूत्र में अकार इत्संज्ञक के रूप में गृहीत नहीं है । हकार के अकार के समान लकार का अकार भी स्वभावतः उच्चारणार्थक ही है।

इस प्रकार र-प्रत्याहार का आधार सुदृढ़ न होने के कारण वर्णसमाम्नाय से सम्बद्ध प्रत्याहारों की संख्या बयालिस ही है।

2. वर्णसमाम्नाय से असम्बद्ध प्रत्याहार

(सुप्, सुट्, आप्, तिङ्, तङ् एवम् उम्, कृञ्, तृन्, मात्रच्, सङ्, यङ्)

वर्णसमाम्नाय से असम्बद्ध प्रत्याहार दो प्रकार के हैं- पहला पाणिनीय सूत्र सम्बन्धित और दूसरा महर्षि पतञ्जलि द्वारा परिकल्पित। पाणिनि के दो सूत्रों से सम्बन्धित-सुप् सुट्, आप्, तिङ्, तङ्- इन पाँच प्रत्याहारों का परिचय इस प्रकार है।

(क) सुप् प्रत्याहार

"स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्"

पा. सू. 4.1. 2.

इस सूत्र के सु से सुप् के पकार तक सुप् प्रत्याहार माना जाता है। प्रत्याहारों

का ज्ञान 'आदिरन्त्येन सहेता' इस सूत्र के द्वारा होता है, इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। यहाँ आदि वर्ण सु और अन्तिम वर्ण प् है। सु से लेकर सुप्-घटित पकार-पर्यन्त समुदाय का ज्ञान सुप्-प्रत्याहार से होता है, जिसका उल्लेख सुप्तिङन्तं पदम् (पा. सू. 1.4.14) सुपः (पा. सू. 1.4.103) सुपि च (पा. सू. 7.3. 102.) आदि सूत्रों में हुआ है। पहला सूत्र पदसंज्ञा-विधायक और दूसरा एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसंज्ञा-विधायक तथा तीसरे सूत्र से दीर्घ होता है। इस प्रकार के सुप् प्रत्याहार वाले सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (पा. सू. 2.4. 71) सुपां सुलुक्-(पा. सू. 7.1.39) सुपि स्थः कः (पा. सू. 3.2.4) आदि अनेक सूत्र हैं, उन सबके संग्रह की यहाँ आवश्यकता नहीं है। अतः उदाहरण के लिए केवल चार-पाँच सूत्र प्रस्तुत किये गये हैं।

(ख-ग) सुट् और आप् प्रत्याहार

सुप् प्रत्याहार के ही अन्दर सुट् और आप् प्रत्याहार हैं। सुट् प्रत्याहार से सु, औ, जस्, अम् औट्- इन पाँच प्रत्ययों का बोध होता है। सुट् प्रत्याहार का उल्लेख सुडनपुंसकस्य (पा. सू. 1.1.42) सूत्र में हुआ है, जिससे सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है। दूसरा आप् प्रत्याहार है, जिसका सम्बन्ध टा-प्रत्यय के आकार से लेकर सुप् के पकार तक है, जैसा कि 'अनाप्यकः' (पा. सू. 7.2.113) सूत्र के व्याख्यान-प्रसङ्ग में काशिकाकार ने कहा है- आपीति प्रत्याहारस्तृतीयैकवचनात् प्रभृति सुपः पकारेण। इसी प्रकार सिद्धान्त कौमुदी में भी- आबिति टा इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः ऐसा कहा है। यह प्रत्याहार अनाप्यकः सूत्र में उपलब्ध होता है, जो इद् को अन् आदेश करता है, जिससे अनेन पद की सिद्धि होती है। इस प्रकार स्वौजसमौट्- सूत्र से सम्बन्धित सुप् तथा इसके अवयवभूत सुट्, आप्- इन तीन प्रत्याहारों का परिचय प्राप्त होता है।

(घ) तिङ् प्रत्याहार

सुप् प्रत्याहार के समान तिङ् प्रत्याहार का संकेत तिप्तस्झि-सिप्थस्थ-मिब्वस्मस्-तातांझ-थासाथांध्वमिड्वहिमहिङ् (पा. सू. 3.4.78) सूत्र में है। इसमें अठारह प्रत्ययों का संग्रह है। यद्यपि ये लकार के स्थान में होनेवाले अठारह आदेश हैं, फिर भी आदेश में स्थानी का धर्म होने के कारण इन्हें प्रत्यय कहा जाता है। आदि वर्ण ति और अन्तिम वर्ण ङ् के योग ये तिङ् प्रत्याहार बनता है, जिसका उपयोग सुप्तिङन्तं पदम् (पा. सू. 1.4.14), तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः (पा. सू. 1.4.101) भूसुवोस्तिङि (पा. सू. 7.3.88) आदि अनेक सूत्रों में हुआ है।

(ङ) तङ् प्रत्याहार

तङ् प्रत्याहार तिङ् प्रत्याहार का ही अवयव है। तिप्तस्झि- इस पूर्वोक्त सूत्र

के त से लेकर महिङ् के ङ् तक तङ् प्रत्याहार है। इससे त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इड्, वहि, महिङ्- इन प्रत्ययों का बोध होता है। तङ् प्रत्याहार का उपयोग केवल तङानावात्मनेपदम् (पा. सू. 1.6.100) इस एक सूत्र में ही हुआ है। इस सूत्र से तङ् प्रत्याहार और आन अर्थात् शानच् एवं कानच् प्रत्यय की आत्मनेपदसंज्ञा होती है।

सुप् और तिङ् तथा इनके अवयवभूत सुट्, आप् एवं तङ्-ये पाँच प्रत्याहार स्वौजसमौट्-और तिप्तसझि- सूत्र से सम्बन्धित हैं। सुप् और तिङ् इन दोनों प्रत्याहारों का योग सुप्तिङन्तं पदम् सूत्र में है। सुप् और तिङ् प्रत्याहार से सम्बन्धित शब्द ही पद कहलाते हैं। पदों की संख्या चार है- नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात[1]। इनमें नाम अर्थात् संज्ञाशब्द-देवदत्त, यज्ञदत्त आदि, उपसर्ग प्र, परा आदि एवं निपात-च, ह, वा आदि का सम्बन्ध सुप् प्रत्याहार से है और आख्यात का तिङ् प्रत्याहार से। इन चारों पदों का लक्षण शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य में इस प्रकार है-

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः।। शु. य. प्रा. 8.46

अर्थात् आख्यात पद में व्यापार की प्रधानता रहती है और उपसर्ग धातु के क्रियारूप सामान्य अर्थ की विशेषता को बताता है। नामपद (संज्ञा) लिङ्ग और संख्या से युक्त होता है। पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग- इन तीनों लिङ्गों में किसी न किसी लिङ्ग (चिह्न) से संज्ञापद का सम्बन्ध रहता ही है। च, ह, वा, आदि निपातपद प्रायः छन्दों की पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं।

सुबन्त और तिङन्त इन दोनों को यदि एक शब्द के द्वारा कहना हो तो उसके लिए पाणिनि का विभक्तिश्च (पा. सू. 1.4.104) सूत्र है। इससे सुबन्त एवं तिङन्त पदों की विभक्ति-संज्ञा होती है, क्योंकि सुप् और तिङ् विभाजक हैं। सुप् प्रत्याहार के कारण राम, कृष्ण आदि संज्ञापद इक्कीस रूप धारण करते हैं एवं तिङ्-प्रत्याहार से भवति, पचति आदि आख्यात-पद अठ्ठारह रूपों में विकसित होते हैं।

उपसर्ग और निपात सदा एक रूप में रहते हैं, इसीलिए इन्हें अव्यय कहते हैं। अव्यय-पदों के साथ भी सुप् प्रत्याहार का सम्बन्ध है, किन्तु लोप[2] होने के कारण उसका श्रावण-प्रत्यक्ष नहीं होता।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सभी पदों में सुप् और तिङ् प्रत्याहार का प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध रहता ही है। इसीलिए पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त को पद कहा है। नैयायिकों ने भी ते विभक्त्यन्ताः पदम्[3] कहकर पूर्वोक्त बात की ही पुष्टि की है।

सुप्, सुट्, आप् तथा तिङ्, तङ्- ये पाँच प्रत्याहार प्रत्ययात्मक हैं, इनसे ही नाम, आख्यात की अनेकरूपता एवं पदों की उपयोगिता सिद्ध होती है।

---

1. चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। निरुक्त. 1.1.
2. अव्ययादाप्सुपः, पा.सू. 2.4.82.
3. न्या. दर्शन, अ. 2 आ. 2 सू. 60

3. पतञ्जलि द्वारा परिकल्पित प्रत्याहार

[उम्, कृञ्, तृन्, मात्रच्, सङ्]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उम्, कृञ्, तृन्, मात्रच्, सङ्- इन पाँचों को प्रत्याहार माना है, इन्हें प्रत्याहार मानने में प्रक्रिया-लाघव ही मुख्य रूप से कारण है।

(क) उम् प्रत्याहार

उम् प्रत्याहार **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (मभा. 1.1.56) इस सूत्र के भाष्य में उपलब्ध होता है। वहाँ विद् धातु से शतृ प्रत्यय होने पर शतृ को वसु[1] आदेश होता है, जिससे द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में विदुषः पद निष्पन्न होता है। अब यहाँ आदेश में स्थानी धर्म का आरोपकर **शतुरनुमो नद्यजादी** (पा. सू. 6.173) सूत्र से अन्तोदात्त की प्राप्ति होती है, जिसके लिए कात्यायन ने **स्वरे वस्वादेशे** इस वार्तिक की रचना की। इसका तात्पर्य है कि यदि स्वर विधि हो तो वसु आदेश को स्थानिवद्भाव नहीं होता। इसलिए विदुषः में अन्तोदात्त का निवारण हो जायेगा।

भाष्यकार का कहना है कि यहाँ नुम् आगम नहीं है, अपितु उम् प्रत्याहार है, इसलिए 'न उम् अनुम्' इस विग्रह से अनुमः पद बना है, 'न नुम् अनुम्' यह विग्रह नहीं है। उम् प्रत्याहार की कल्पना **तनादिकृञ्भ्य उः** (पा. सू. 3.1.79) सूत्र के उ से लेकर **इदितो नुम् धातोः** (पा. सू. 3.1.79) सूत्र के मकार तक है, जिसके भीतर वसु-प्रत्यय भी आता है, इसलिए वसु-प्रत्यय उम् हुआ और पूर्वोक्त सूत्र तो अनुमः अर्थात् उम् प्रत्याहार से भिन्न को अन्तोदात्त करता है। अतः स्थानिवद्भाव-निषेध के लिए **स्वरे वस्वादेशे** इस वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार भाष्यकार ने अनुमः में लम्बोदर उम् प्रत्याहार की कल्पना कर वार्तिक का प्रत्याख्यान किया है।

(ख) कृञ् प्रत्याहार

कृञ् प्रत्याहार का प्रसङ्ग **"कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि"** सूत्र के भाष्य में है। इस सूत्र के कृञ् को धातु न मानकर प्रत्याहार कहा गया है, जो **कृभ्वस्ति-योगे संपद्यकर्तरि च्विः** (पा. सू. 5.4.5) सूत्र के कृवर्ण से लेकर **कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात्कृषौ** (पा. सू. 5.4.58) सूत्र के ञकार तक है[2]। कृञ् को प्रत्याहार मानने का फल है- भू और अस्- इन दो धातुओं का भी अनुप्रयोग जिससे एधाञ्चक्रे, एधाम्बभूव तथा एधामास इत्यादि पदों की सिद्धि हो। कृञ् धातु का ग्रहण करने पर तो केवल एधाञ्चक्रे वाले रूप बनेंगे, किन्तु इष्ट है कि तीनों का अनुप्रयोग हो, इसलिए कृञ् प्रत्याहार की कल्पना की गई है। काशिकाकार जयादित्यवामन तथा सिद्धान्त कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने भी कृञ् प्रत्याहार का समर्थन युक्ति और प्रमाण

1. विदेः शतुर्वसुः, पा. सू. 7.1.36
2. कृञिति नेदं धातुग्रहणं किं तर्हि प्रत्याहारग्रहणम्। क्व सन्निविष्टानां प्रत्याहारः? कृभ्वस्तियोग इत्यतः प्रभृत्याऽऽकृञो ञकारात्। म. भा. 3.1.40

के द्वारा किया है[1]।

एक प्रश्न यहाँ यह उठता है कि कृञ् प्रत्याहार के भीतर तो सम्पूर्वक पद् धातु भी है, इसलिए कृ-भू-अस् के समान सम्पद् का भी अनुप्रयोग होना चाहिये, जिसका समाधान "विशेषक्रिया के साथ सामान्यक्रिया का ही अनुप्रयोग हो सकता है, विशेष क्रिया का नहीं" इस सिद्धान्त से किया गया है।

भाष्यकार ने कृ-भू-अस्-इन धातुओं को सामान्य-क्रिया कहा है और इनसे अतिरिक्त सभी पच्, पठ्, आदि धातुओं को विशेषक्रिया। जिसका कारण उन्होंने यही बताया कि दो समान्यक्रियाएँ तथा दो विशेषक्रियाएँ एक साथ नहीं रहतीं, किन्तु विशेष-क्रिया के साथ ये सामान्य-क्रियाएँ रहती हैं[2]। पद् धातु तो विशेष-क्रिया है, इसलिए एध् आदि विशेष-क्रियाओं के साथ इसकी एकता सम्भव नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्वक पद् धातु का अर्थ है- सिद्ध वस्तु को दूसरे रूप में बदलना और एध् धातु का अर्थ है बढ़ना, इसलिए परस्पर विपरीत अर्थवाले इन दो धातुओं का अभेद नहीं हो सकता। जैसा कि भट्टोजिदीक्षित ने स्पष्ट कहा है-

"तेषां कृभ्वस्तीनां क्रियासामान्य-वाचित्वादाम्प्रकृतीनां विशेषवाचित्वात्तदर्थ-योरभेदेनान्वयः, सम्पदिस्तु प्रत्याहारेऽन्तर्भूतोऽप्यनन्वितार्थत्वात्र प्रयुज्यते।[3]"

इसलिए कृञ् को प्रत्याहार मानने में कोई दोष नहीं है।

(ग) तृन् प्रत्याहार

भाष्यकार ने 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (म. भा. 2.3.69) सूत्र के तृन् पद को प्रत्याहार मानकर शानंश्चानश्शतृणामुपसंख्यानम् इस वार्तिक का खण्डन किया है। उनका कहना है कि लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (पा. सू. 3.2.124) सूत्र के तृ से लेकर तृन् (पा. सू. 3.2.135) सूत्र के नकार तक तृन् प्रत्याहार है, जिसके भीतर शानन्, चानश्, शतृ-प्रत्यय भी आते हैं। इसलिए षष्ठी विभक्ति का निषेध न लोकाव्यय- सूत्र से ही हो जायेगा, शानंश्चानश्-शतृणामुपसंख्यानम् वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं है।

बात यह है कि सोमं पवमानः[4], नटमाघ्नानः[5], पारायणमधीयन्[6] आदि प्रयोगों

---

1. कृञिति प्रत्याहारेण कृभ्वस्तयो गृह्यन्ते, तत्सामर्थ्यादस्तेर्भूभावो न भवति। काशिका 3.1.40
2. कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवाचिनः क्रियाविशेषवाचिनः पचादयः। न च सामान्यवाचिनोरेव वा प्रयोगो भवति। तत्र विशेषवाचिन उत्पत्तिः, सामान्यवाचिनोऽनुप्रयोक्ष्यन्ते। मा.भा. 3.1.40
3. द्रष्टव्य-सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादिप्रकरण, सू. सं. 2239
4. पूङ्यजोः शानन् 3.2.128 सूत्र से वर्तमान में शानन् प्रत्यय होने पर पवमानः सिद्ध होता है।
5. ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् 3.2.129 सूत्र से कर्ता में चानश् प्रत्यय होने पर आघ्नानः पद बनता है।
6. इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि 3. 2.130 सूत्र से कर्ता में शतृ प्रत्यय होने पर 'अधीयन्' पद निष्पन्न होता है।

में कर्तृकर्मणोः कृति इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति है, जिसका निषेध न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् सूत्र से होगा नहीं, क्योंकि ओदनं पचन्, ओदनं पचमानः की तरह उक्त पदों में क्रमशः शानन्, चानश्, शतृ-ये लकार के स्थान में आदेश नहीं हैं, बल्कि स्वतन्त्र प्रत्यय हैं। इसलिए लादेश मानकर षष्ठी विभक्ति का निषेध नहीं होगा, किन्तु द्वितीया विभक्ति यहाँ अभीष्ट है। अतः वार्तिककार ने शानंश्चानश्शतृणामुपसंख्यानम् इस वार्तिक को पढ़ा है,किन्तु भाष्यकार इसके प्रत्याख्यान के लिए न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् सूत्र के तृन् को प्रत्याहार घोषित कर सूत्र से ही षष्ठी विभक्ति का निषेध किया है।

इस प्रकार उक्त वार्तिक का खण्डन ही तृन् प्रत्यय को तृन् प्रत्याहार मानने की परिकल्पना का मुख्य उद्देश्य सिद्ध होता है।

(घ) मात्रच् प्रत्याहार

मात्रच् प्रत्याहार भी स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (म. भा 1.56) इस सूत्र के भाष्य में व्याख्यात है। वहाँ पर तस्य दोषस्तयादेशे उभयप्रतिषेधः इस वार्तिक के द्वारा कात्यायन ने स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है। भाष्यकार ने मात्रच् को प्रत्याहार मानकर वार्तिक को अनावश्यक बताया है। आदेश में स्थानी का धर्म मानने पर जहाँ कहीं दोष होता है, उसके परिहार के लिए कात्यायन के वार्तिक हैं, जिनका प्रायः खण्डन किसी न किसी युक्ति से भाष्यकार ने किया है, जैसा कि उभौ अवयवौ यस्य इस अर्थ में संख्याया अवयवे तयप् (पा. सू. 5.2.42) इस सूत्र से तयप् प्रत्यय होता है और उसे उभादुदात्तो नित्यम् (पा. सू. 5.2.44) सूत्र से अयच् आदेश हो जाता है। उभ शब्द से विहित तयप् प्रत्यय को अयच् आदेश होता है और वह उदात्त स्वर वाला भी है, यह इस सूत्र का अर्थ है, जिससे उभय पद की सिद्धि होती है। अब तयप् के स्थान में हुए इस अयच् आदेश को स्थानिवद्भाव से तयप् मानकर वैकल्पिक सर्वनाम संज्ञा[1] होनी चाहिये, जिससे उभये-उभयाः- ये दो पद बनेंगे, किन्तु शिष्ट प्रयुक्त केवल एक उभये पद ही है। इसलिए वार्तिककार ने अयच् के स्थानिवद्भाव का निषेध किया है।

यहाँ भाष्यकार ने अयच् को स्वतन्त्र प्रत्यय मानकर वार्तिक का काम तो पूरा किया, लेकिन अयच् को स्वतन्त्र प्रत्यय स्वीकार करने पर उभयी पद में ईकार (ङीप्) नहीं होगा, क्योंकि टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः (पा. सू. 4.1.15) इस सूत्र में अयच् प्रत्यय का उल्लेख नहीं है, ऐसी शङ्का की उद्भावना कर भाष्यकार ने प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः (पा. सू. 5.2.37) इस सूत्र के मात्रच्-प्रत्यय को प्रत्याहार मान लिया। जिसका सम्बन्ध मात्र शब्द से आरम्भ कर द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा (पा. सू. 5.2.43) इस सूत्रोक्त अयच् के चकार तक है, जिसके भीतर सात सूत्र हैं, जिनमें उभादुदात्तो नित्यम् यह सूत्र भी आ जाता है, क्योंकि इसमें पूर्वोक्त अयच् का सम्बन्ध है। इसलिए अयच् को प्रत्यय मान लेने पर भी टिड्ढाणञ्- सूत्र में सम्बद्ध मात्रच् प्रत्यय को प्रत्याहार मानने से उभयी में ईकार हो जायेगा, फिर स्थानिवद्भाव निषेध करने के

1. प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च, पा. सू. 1.1.33

लिए वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं है।

यदि कहें कि मात्रच् प्रत्याहार के भीतर तो डति-प्रत्यय[1] भी है, अतः कति पद में भी ङीप् (ईकार) होना चाहिए। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि ङीप् करनेवाले टिड्ढाणञ्- सूत्र में अजाद्यतष्टाप् (पा. सू. 4.1.4) सूत्र से अत पद का अनुवर्तन होता है और कति शब्द अदन्त नहीं है, इसलिए ङीप् नहीं हुआ।

तैलमात्रा, घृतमात्रा में तो मात्र शब्द प्रत्यय नहीं है, किन्तु सूक्ष्मार्थक प्रातिपदिक है, इसलिए ङीप् नहीं होता, क्योंकि प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् (परि.112) इस परिभाषा के अनुसार टिड्ढाणञ्- सूत्र से होने वाले ङीप् के लिए मात्रच् प्रत्यय का ही ग्रहण होता है प्रातिपदिक का नहीं। इसलिए मात्रच् को प्रत्याहार मानने में कोई दोष नहीं है, अपितु यह प्रत्याहार तस्य दोषस्तयादेशे उभयप्रतिषेधः के अभाव में भी कार्य की सिद्धि का द्योतक है- ऐसा भाष्यकार का मत है।

किन्तु प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नच् को प्रत्यय मानना और मात्रच् को प्रत्याहार स्वीकार करना केवल भाष्यकार को ही अभीष्ट है, इसमें सूत्रकार पाणिनि प्रमाण नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार पतञ्जलि कात्यायन के वार्तिकों की उपयोगिताओं को पाणिनि के सूत्रों द्वारा सिद्ध करने में विशेष जागरूक रहे।

(ङ) सङ् प्रत्याहार

सङ् प्रत्याहार का उल्लेख सृजिदृशोर्झल्यमकिति (पा. सू. 6.1.58) सूत्र के अमि सङ्ग्रहणम् इस वार्तिक में है। इस सूत्र से किद्भिन्न झलादि प्रत्यय पर में हो तो सृज् और दृश् धातु को अम् का आगम होता है, जिससे स्रष्टा, स्रक्ष्यति, द्रष्टा , द्रक्ष्यति आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि किद्भिन्न झलादि प्रत्यय तो 'भ्याम्' भी है, अतः रज्जुसृड्भ्याम्, देवदृग्भ्याम् में भी अम् का आगम होना चाहिये; जिसके निवारण के लिए झल् प्रत्याहार की जगह सङ् प्रत्याहार की कल्पना की गई है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है-

सङिति प्रत्याहारग्रहणम्, क्व सन्निविष्टानां प्रत्याहारः? सनः प्रभृत्याऽऽमहिङो ङकारात्। म. भा. 6.1.58

अर्थात् सङ् प्रत्याहार गुप्तिज्किद्भ्यः सन् (पा. सू. 3.1.5) सूत्र के सकार से लेकर तिप्तस्झि -सिप्थस्थ-मिब्वस्मस्-तातांझ-थासाथांध्वमिड्वहिमहिङ् (पा. सू. 3.4.78) सूत्र के ङकार तक है। इसलिए सङ् प्रत्याहारवाले प्रत्यय को ही निमित्त मानकर अम् का आगम होगा। पूर्वोक्त रज्जुसृड्भ्याम्, देवदृग्भ्याम् में तो क्विप् प्रत्यय है, जो सङ् प्रत्याहार के बाहर है, अतः यहाँ अम् नहीं होगा। इस प्रकार झल् प्रत्याहार की जगह सङ् प्रत्याहार मानने पर अतिव्याप्ति दोष का निवारण किया गया है।

यद्यपि पूर्वोक्त दोष को हटाने के लिए वार्तिककार धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्ययविज्ञानात् सिद्धम् भी कहा है। जिसका तात्पर्य है कि जहाँ धातु का स्वरूपग्रहण

1. किमः संख्यापरिमाणे डति च, पा. सू. 5.2.41

है वहाँ धातु से विधीयमान प्रत्यय परे रहते ही कार्य होता है। इसलिए स्रष्टा, स्रक्ष्यति, द्रष्टा, द्रक्ष्यति में तो अम् आगम होगा और रज्जुसृड्भ्याम्, देवदृग्भ्याम् में नहीं होगा, क्योंकि भ्याम् प्रत्यय तो रज्जुसृज् तथा देवदृश् इस प्रातिपदिक से हुआ है। अतः यहाँ अम् सम्भव नहीं है। फिर भी यह पक्ष वैकल्पिक है सङ् प्रत्याहार के खण्डन में इसका तात्पर्य नहीं है।

(च) यङ् प्रत्याहार

पतञ्जलि के पूर्वोक्त उम्, कृञ्, तृन्, मात्रच्, सङ्- इन पाँच प्रत्याहारों के समान एक यङ् प्रत्याहार भी है, जिसका उल्लेख व्यत्ययो बहुलम् (पा. सू. 3.1.85) सूत्र के निम्नलिखित भाष्य वार्तिक में है-

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन।।

इस वार्तिक की व्याख्या में भट्टोजिदीक्षित ने कहा है-

यञे यशब्दादारभ्य लिङ्याशिष्यङिति ङकारेण प्रत्याहारः तेषां व्यत्ययो भेदतीत्यादिरुक्त एव। सि. कौ. वैप्र.

अर्थात् सार्वाधातुके यक् (पा. सू. 3.1.67) इस सूत्र के य वर्ण से आरम्भ कर लिङ्याशिष्यङ् (पा. सू. 3.1.86) सूत्र के अन्तिम ङ्वर्ण तक यङ् प्रत्याहार है। इसके भीतर शप्, श्यन् आदि सभी तिङ् विकरण प्रत्यय आ जाते हैं। जिससे भिनत्ति-भेदति, म्रियते-मरते, नयतु-नेषतु आदि तिङ्-विकरण-व्यत्ययों के उदाहरण ही यङ् के भी उदाहरण हैं। इसीलिए यङ् को स्वतन्त्र प्रत्यय मानकर कहीं उदाहरण नहीं दिया गया है।

यद्यपि भाष्यकार तथा काशिकाकार ने यङ् प्रत्याहार की चर्चा नहीं की, किन्तु यङ् का कोई व्यत्यय वाला उदाहरण भी नहीं दिया है। यङ् के अतिरिक्त सभी सुप्, तिङ् आदि व्यत्ययों के उदाहरण वहाँ उपलब्ध होते हैं। अतः स्पष्ट है कि इस श्लोक-वार्तिक का यङ् पद प्रत्यय नहीं है, अपितु सभी विकरणों का संक्षेप रूप से सङ्ग्राहक यङ् प्रत्याहार है।

इस प्रकार पतञ्जलि की प्रत्याहार-पद्धति के अनुसार यङ् को भी प्रत्याहार मानने पर वर्णसमाम्नाय से असम्बद्ध प्रत्याहारों की संख्या ग्यारह हुई। इन सुप्, सुट्, आप्, तिङ्, तङ् तथा उम्, कृञ्, तृन्, मात्रच्, सङ्, यङ्- इन ग्यारह प्रत्याहारों का क्षेत्र सीमित है, क्योंकि दो एक सूत्रों में ही इनका उपयोग हुआ है और वर्णसमाम्नाय से सम्बन्धित बयालिस प्रत्याहारों का क्षेत्र तो बड़ा व्यापक है क्योंकि संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, आदि सभी सूत्रों में इनका सम्बन्ध है।

4. अच् प्रत्याहार और उसके अवान्तर भेद

पूर्वोक्त विवरण के अनुसार प्रत्याहारों की कुल संख्या तिरेपन है, जिनमें वर्ण-समाम्नाय से सम्बन्धित अच् और हल् इन दो प्रत्याहारों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इनके

अवान्तर भेद ही अन्य प्रत्याहार हैं, जिनका विवेचन क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। अच् प्रत्याहार के भीतर नौ प्रत्याहार आते हैं।

1. अक् = अ इ उ ऋ ऌ।
2. अच् = अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ।
3. अण् = अ इ उ।
4. इक् = इ उ ऋ ऌ।
5. इच् = इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ।
6. उक् = उ ऋ ऌ।
7. एङ् = ए ओ।
8. एच् = ए ओ ऐ औ।
9. ऐच् = ऐ औ।

अच् से सम्बन्धित इन नौ प्रत्याहारों का ही उपयोग पाणिनि के सूत्रों में है। इनके अतिरिक्त भी अच् और हल् वर्ण से सम्बन्धित अङ्, इङ् तथा हट्; हण् आदि प्रत्याहार हो सकते हैं, किन्तु शास्त्र में उनका उपयोग न होने से उनकी गणना नहीं होती, क्योंकि कहा गया है- या या संज्ञा सा सा फलवती अर्थात् संज्ञा का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता हैं। सम्भावित अङ्, हट् आदि प्रत्याहारों का उपयोग कहीं नहीं हुआ है, इसलिए ये प्रत्याहार की कोटि में नहीं आते।

5. हल् प्रत्याहार और उसके अवान्तर भेद

हल् प्रत्याहार के भीतर भी छब्बीस प्रत्याहार हैं।

1. हल् = ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह ।
2. हश् = ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द।
3. यय् = य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प।
4. यर् = य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स।
5. यञ् = य व र ल ञ म ङ ण न झ भ।
6. यम् = य व र ल ञ म ङ ण न।
7. यण् = य व र ल।
8. वल् = व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह।
9. वश् = व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द।
10 रल् = र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह।
11. मय् = म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प।
12 ङम् = ङ ण न।
13 झय् = झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प।

14. झर् = झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स।
15. झल् = झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह।
16. झश् = झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द।
17. झष् = झ भ घ ढ ध।
18. भष् = भ घ ढ ध।
19. जश् = ज ब ग ड द।
20. बश् = ब ग ड द।
21. खय् = ख फ छ ठ थ च ट त क प।
22. खर् = ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स।
23. छव् = छ ठ थ च ट त।
24. चर् = च ट त क प श ष स।
25. शर् = श ष स।
26. शल् = श ष स ह।

विशुद्ध हल् अर्थात् व्यञ्जन से सम्बन्धित इन छब्बीस प्रत्याहारों का उपयोग पाणिनि के सूत्रों में अनेक बार हुआ है।

6. अज्झलात्मक प्रत्याहार

उभयवर्णात्मक प्रत्याहार वे हैं, जिनमें स्वर एवं व्यञ्जन दोनों का सम्बन्ध है, जिनका विवरण निम्नलिखित है-

1. अल् = अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह।
2 अम् = अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ञ म ङ ण न।
3. अण् = अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल।
4. अट् = अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र।
5. अश् = अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द।
6. इण् = इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल।

अज्झल्-मिश्रित इन छः प्रत्याहारों में अल्-प्रत्याहार सबसे बड़ा प्रत्याहार है, क्योंकि वर्णसमाम्नाय के आदि अकार और अन्त्य लकार रूप अल् प्रत्याहार से स्वर और व्यञ्जन सभी वर्णों का बोध होता है। इसीलिए व्याकरण शास्त्र में अल् प्रत्याहार को वर्ण का पर्यायवाचक माना जाता है।

तृतीय प्रभा

प्रत्याहारों का उपयोग

1. प्रत्याहारात्मक सूत्र

पाणिनीय व्याकरण में जिन परिगणित प्रत्याहारों का उपयोग हुआ है, उनका विवरण यहाँ प्रस्तुत है, जिसमें कुछ सूत्र तो ऐसे हैं, जो प्रत्याहारात्मक हैं। उनमें भी उद्देश्य, विधेय तथा निमित्तरूप में जहाँ प्रत्याहारों का उपयोग हुआ है, वे सर्वथा प्रत्याहारात्मक सूत्र हैं और कुछ प्रत्याहारात्मक सूत्र ऐसे भी हैं जो केवल उद्देश्य, केवल विधेय तथा केवल निमित्तरूप में ही निर्मित हुए हैं। इसलिए उनका अर्थ अन्यपदों के सहयोग से किया जाता है। वे पद पूर्ववर्ती सूत्रों से सम्बद्ध हैं। इसीलिए पाणिनीय सूत्रों की रचना में प्रत्याहार-शैली के साथ अनुवर्तन-शैली की अपनी विशेषता मानी जाती है, जो दूसरी जगह सम्भव नहीं है।

सर्वप्रथम विशुद्ध प्रत्याहारात्मक सूत्रों में ये पाँच सूत्र हैं-

1. इको यणचि (6.1.77)
2. झलां जश् झशि (8.4.52)
3. हलो यमां यमि लोपः (8.4.63)
4. झरो झरि सवर्णे (8.4.64)
5. खरि च (8.4.54)

इनका क्रमशः विवरण इस प्रकार है-

1. इको यणचि (6.1.77) इस सूत्र में तीनों पद प्रत्याहार ही हैं- इकः, यण् और अचि। इनमें इक् उद्देश्य, यण् विधेय और अचि निमित्त है। जिसका अर्थ है कि अच् अर्थात् स्वर वर्ण पर में हो तो इक्=इ उ ऋ ऌ- वर्ण के स्थान में क्रमशः यण्=य व र ल- वर्ण विधेयरूप में होते हैं, जिससे दधि+आनय=दध्यानय, सुधी+उपास्यः = सुद्ध्युपास्यः, मधु+अरिः= मद्ध्वरिः, धातृ+अंशः = धात्रंशः, ऌ+आकृतिः=लाकृतिः आदि पद निष्पन्न होते हैं।

इसके अपवादरूप में अकः सवर्णे दीर्घः (पा. सू. 6.1.97) सूत्र है, जो सवर्ण संज्ञक अच् पर में रहने पर पूर्व सूत्र से प्राप्त यण् के स्थान में दीर्घ विधान करता है, जैसा कि श्री+ईशः, विष्णु+उदयः में सवर्ण अच् होने के कारण यण् न होकर दीर्घ हो जाता है, जिससे श्रीशः, विष्णूदयः आदि का प्रयोग निष्पन्न होते हैं।

2. झलां जश् झशि (8.4. 52) यह सूत्र भी प्रत्याहारात्मक है। झलाम्, जश् और झशि- ये तीनों प्रत्याहार हैं। झल् उद्देश्य, जश् विधेय और झश् निमित्त है, जिसका अर्थ है कि झश् अर्थात् प्रत्येक वर्ग के चतुर्थ=झ भ घ ढ ध एवं तृतीय=ज ब ग ड द- वर्ण परनिमित्त हों तो झल्=झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स ह-वर्णरूप उद्देश्य के स्थान में जश्=ज ब ग ड द- वर्ण विधेयरूप में होते हैं। जिससे लब्धा, दोग्धा, सुद्ध्युपास्यः आदि पद निष्पन्न होते हैं।

3. हलो यमां यमि लोपः (8. 4. 63) इस सूत्र में 'हलः' यह पञ्चम्यन्त पद पूर्वनिमित्त और 'यमि' यह सप्तम्यन्त पद परनिमित्त है और दोनों के बीच यम् रूप प्रत्याहार का लोप होता है, अर्थात् उसका दर्शन नहीं होता है। जैसा कि 'आदित्यस्यापत्यम्' इस विग्रह में "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" (पा. सू. 4.1.85) सूत्र से ण्य- प्रत्यय होने पर हल् के बाद अन्तिम यकाररूप यम् प्रत्याहार को निमित्त मानकर प्रथम यकार का लोप हो जाता है, जिससे 'आदित्यः' पद की सिद्धि होती है। जिसका अर्थ होता है आदित्य का पुत्र शनि।

4. झरो झरि सवर्णे (8.4.64) इस सूत्र में "हलो यमां यमि लोपः" इस पूर्व सूत्र से हल् प्रत्याहार का अनुवर्तन होता है, जिससे इस सूत्र में भी तीन प्रत्याहार हो जाते हैं। हलः, झरः और झरि। इनमें हल् पूर्वनिमित्त, झर् उद्देश्य, लोपरूप विधेय और झर् यह सप्तम्यन्त पद पर-निमित्त है। जिसका अर्थ होता है कि सवर्ण संज्ञक झर् पर में हो तो हल् के बाद झर् का विकल्प से लोप होता है। जिससे उद्+स्थानम्=उत्थानम्, प्रद+क्त=प्रत्तम्[1] आदि पदों में तकाररूप झर् प्रत्याहार का लोप हुआ है।

5. खरि च (8.4.54) इस सूत्र में यद्यपि शब्दतः प्रत्याहाररूप में निमित्त का ही उपादान हुआ है, फिर भी यह सूत्र अर्थतः प्रत्याहारात्मक है, क्योंकि इसमें "झलां जश् झशि" सूत्र से झल् रूप उद्देश्य तथा "अभ्यासे चर्च" (8.4.53) सूत्र से चर् रूप विधेय का अनुवर्तन होने से सूत्र का अर्थ होता है कि खर्=ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स वर्ण पर में हों तो झल् के स्थान में चर्=च ट त क प श ष स-वर्ण विधेय होंगे। जिससे भिद्+ता = भेत्ता, युयुध्+सन्=युयुत्सते आदि प्रयोगों में तकाररूप चर् प्रत्याहार हुआ है।

पूर्वोक्त पाँच सूत्रों के अतिरिक्त प्रत्याहारात्मक सूत्रों में निम्नलिखित उन्नीस सूत्र भी हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है-

6. इको झल्	(1.2.9)	इकः- पूर्वनिमित्त, झल्-सनुविशेषण
7. इकोऽचि विभक्तौ	(7.1.73)	इकः- उद्देश्य, अचि-परनिमित्त
8. शरोऽचि	(8.4.49)	शरः- उद्देश्य, अचि-परनिमित्त
9. इग्यणः सम्प्रसारणम्	(1.1.45)	इक्- विधेय, यणः- उद्देश्य
10. झलां जशोऽन्ते	(8.2.39)	झलाम्-उद्देश्य, जशः- विधेय
11. तिङ्ङतिङः	(8.1.28)	तिङ्-पदविशेषण, अतिङः-पूर्वनिमित्त
12. झलो झलि	(8.2.26)	झलः-पूर्वनिमित्त, झलि-परनिमित्त
13. अचश्च	(1.2.28)	अचः-उद्देश्य, परिभाषासूत्र

1. प्र उपसर्ग पूर्वक दा-धातु से क्त-प्रत्यय होने पर दद् आदेश को अपवादकर अच उपसर्गात्तः (पा.सू. 7.4.47) सूत्र से दा के आकार को त् आदेश होता है, फिर 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र से 'प्र द् त् त' के मध्य तकार को लोप तथा दकार को चर्त्व तकार होकर उक्त रूप निष्पन्न होता है।

14.	नाज्झलौ	(1.1.10)	अज्झलौ-वर्णविशेषण, सवर्णनिषेध सूत्र
15.	हलः	(6.4.2.)	हलः- पूर्वनिमित्त-पञ्चम्यन्त पद
16.	हलश्च	(3.3.121)	हलः- धातुविशेषण-पञ्चम्यन्त पद
17.	झयः	(5.4.111)	पूर्वनिमित्त, टच्-विधायक सूत्र
18.	झयः	(8.2.10)	पूर्वनिमित्त, वकार-विधायक सूत्र
19.	इणः षः	(8.3.39)	इणः- पूर्वनिमित्त,षत्वविधायक सूत्र
20.	हलि च	(8.2.77)	हलि-परनिमित्त, दीर्घविधायक सूत्र
21	हशि च	(6.1.114)	हशि-परनिमित्त, उत्वविधायक सूत्र
22.	वा शरि	(8.3.36)	शरि-परनिमित्त, विसर्गविधायक सूत्र
23.	सुपः	(1.4.103)	उद्देश्य, संज्ञासूत्र
24.	सुप्तिङन्तं पदम्	(1.4.14)	शब्दविशेषण, संज्ञाविधायक सूत्र

6. इको झल् (1.2.9) इस सूत्र में 'इकः' पञ्चम्यन्त प्रत्याहार पद पूर्वनिमित्त तथा 'झल्' प्रथमान्त प्रत्याहार पद सन्-प्रत्यय के विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है। जिससे सूत्र का अर्थ होता है कि इगन्त धातु से परे झलादि सन्-प्रत्यय कित्संज्ञक हो। इसका फल है गुण का निषेध। जैसा कि- चिचीषति, तुष्टूषति, चिकीर्षति आदि सन्नन्त पदों में धातु के इकार, उकार एवम् ऋकार रूप इक् के बाद सन् को कित् होने के कारण "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" सूत्र से होनेवाले गुण का "ग्क्ङिति च" सूत्र से निषेध हो जाता है।

7. इकोऽचि विभक्तौ (7.1.73) इसमें षष्ठ्यन्त 'इकः' प्रत्याहार पद उद्देश्य और 'अचि' सप्तम्यन्त प्रत्याहार पद निमित्त है, जो विभक्ति पद का विशेषण है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि अजादि विभक्ति पर में हो तो इगन्त नपुंसक पद को नुम् का आगम हो। जैसा कि वारि, मधु आदि इगन्त नपुंसक पद से अजादि विभक्ति परे रहने पर 'वारिणा-वारिणे, मधुना-मधुने आदि पदों में नुम् का आगम हुआ है। इस सूत्र में "इदितो नुम् धातोः" सूत्र से नुम् पद तथा "नपुंसकस्य झलचः" इस सूत्र से नपुंसक पद की अनुवृत्ति है, जिससे पूर्वोक्त अर्थ सम्पन्न होता है।

8. शरोऽचि (8.4.49) इस सूत्र में शरः और अचि- ये दोनों प्रत्याहार हैं। 'शरः' षष्ठ्यन्त पद उद्देश्य तथा 'अचि' यह सप्तम्यन्त पद निमित्त है। इस सूत्र में "नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य" सूत्र से 'न' पद का अनुवर्तन होता है, जिससे सूत्र का अर्थ है कि अच् प्रत्याहार पर में हो तो शर् (श ष स) को द्वित्व न हो। जिससे 'चतुर्षु, कर्षति, आकर्षः' आदि पदों में "अचो रहाभ्यां द्वे" इस पूर्व सूत्र से ष वर्ण को द्वित्व प्राप्त था, किन्तु ष के बाद उकार तथा अकाररूप अच् प्रत्याहार होने के कारण द्वित्व नहीं होता है।

9. इग्यणः सम्प्रसारणम् (1.1.45) इस सूत्र में 'यणः' यह षष्ठ्यन्त प्रत्याहार पद उद्देश्य तथा 'इक्' प्रथमान्त प्रत्याहार पद विधेय है। जिसका अर्थ होता है- यण् के स्थान में होनेवाला इक् को सम्प्रसारण संज्ञा होती है, जिससे 'यज्+क्त=इष्टम्, वप्+क्त= उप्तम्, ग्रह+तिप्=गृह्णाति' में यण् (य व र) के स्थान में क्रमशः विधीयमान इक् (इ उ ऋ) सम्प्रसारणसंज्ञक माने जाते हैं।

10. झलां जशोऽन्ते (8.2.39) इस सूत्र के अनुसार पद के अन्त में विद्यमान झल् प्रत्याहार के स्थान में जश् प्रत्याहार होता है, जिससे 'वाक्+ईशः=वागीशः, अग्निचित्+अत्र=अग्निचिदत्र' इन प्रयोगों में ककार तथा तकार रूप झल् के स्थान में क्रमशः गकार और दकार हुए हैं।

11. तिङ्ङतिङः (8.1.28) इस सूत्र में केवल तिङ् प्रत्याहार है, जो विधि और निषेधरूप से प्रयुक्त हुआ है। 'तिङ्' यह प्रथमान्तपद पद का विशेषण होकर अनुदात्त होता है और दूसरा 'अतिङः' यह पञ्चम्यन्त पद निमित्त है। इसलिए सूत्र का अर्थ है कि अतिङन्त पद के बाद यदि तिङन्त पद हो तो वह अनुदात्त होता है। जैसा कि 'अग्निमीडे' इस वाक्य में अतिङन्त अग्निम् पद के बाद तिङन्त 'ईडे' पद का उच्चारण अनुदात्त स्वर में होता है। यद्यपि तिङ् प्रत्याहार का सम्बन्ध वर्णसमाम्नाय से नहीं है, फिर भी प्रत्याहारात्मक सूत्र होने के कारण इसका विवेचन यहाँ किया गया।

12. झलो झलि (8.2.26) इस सूत्र में 'झलः' यह पञ्चम्यन्त पद और 'झलि' यह सप्तम्यन्त पद निमित्त है। एक पूर्वनिमित्त है और दूसरा परनिमित्त। समान्यतः पञ्चम्यन्त पद पूर्वनिमित्त और सप्तम्यन्त पद परनिमित्त होता है। इस सूत्र में "रात्सस्य" (पा. सू. 8.2.24) सूत्र से 'सस्य' पद का और "संयोगान्तस्य लोपः" (पा. सू. 8.2.23) से 'लोपः' पद का अनुवर्तन होता है। जिससे सूत्र का अर्थ हो जाता है कि झल् प्रत्याहार के बाद यदि झल् प्रत्याहार निमित्त हो तो सकार का लोप हो। जिससे- अगौप्ताम्, अवात्ताम् आदि प्रयोगों में सिच् के सकार का लोप हुआ है।

13. अचश्च (1.2.28) इस सूत्र में 'अचः' यह षष्ठ्यन्त प्रत्याहार पद है, जो उद्देश्य का बोधक है और चकार ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत पद के अनुवर्तन का द्योतक है। इसीलिए "ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः" (पा. सू. 1.2.27) सूत्र से ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत पद के अनुवर्तन होने से सूत्र का अर्थ होता है कि ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत शब्द का उच्चारण करके यदि किसी सूत्र के द्वारा कोई कार्य हो तो वहाँ 'अचः' इस षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है। अर्थात् वह कार्य अच् प्रत्याहार को ही होता है। जैसा कि-'श्रीपम्' इस पद में श्रीपा शब्द को "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य"(पा. सू. 1.2.47) इस सूत्र से आकार रूप अच् प्रत्याहार को ह्रस्व होता है। इसी प्रकार 'चीयते, श्रूयते' आदि प्रयोगों में

"अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" (पा. सू. 7.4.25) इस सूत्र से इकार तथा उकार रूप अच् प्रत्याहार को दीर्घ हुआ है। प्लुतरूप कार्य के लिए अच् पद की उपस्थिति का उदाहरण "सक्तून्पिब देवदत्त३, अत्रागच्छ कृष्ण३" आदि पद हैं। जिनमें सम्बोधन के टि-संज्ञक अकाररूप अच् प्रत्याहार को "दूराद्धूते च"(पा. सू. 8.1.84) सूत्र से प्लुत हुआ है।

14.नाज्झलौ (1.1.10) यह सूत्र सवर्णसंज्ञा का निषेध करता है। इसमें अच् और हल्- ये दो प्रत्याहार पद समस्त हैं। "अच् च हल् च इति अज्झलौ, न अज्झलाविति नाज्झलौ" इसका अर्थ है कि स्थान और प्रयत्न की एकता में भी अच्=स्वर और हल्=व्यञ्जन वर्ण सवर्ण नहीं कहलाते। क्योंकि स्थान-प्रयत्न की एकता में सजातीय वर्ण ही सवर्ण होते हैं, विजातीय नहीं। इसलिए वर्णसमाम्नाय में अच् और हल् प्रत्याहारघटित वर्णों का सन्निवेश अपनी-अपनी जातियों में हुआ है। अच् और हल् वर्णों के सवर्ण न होने से ही हकार को अकार का सवर्ण नहीं माना गया है। जिससे 'दधि+हरति' में 'ह' को अच् मान कर यण् नहीं हुआ।

15. हलः (6.4.2.) इस सूत्र में 'हलः' यह पञ्चम्यन्त प्रत्याहार पद है। इससे सम्प्रसारण को दीर्घ होता है। जैसा कि 'ज्या' धातु से क्त-प्रत्यय होने पर "ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च" (पा. सू. 6.1.96) सूत्र से य-वर्ण सम्प्रसारणरूप से इ-वर्ण में परिणत हो जाता है, फिर "सम्प्रसारणाच्च" (पा. सू.6.1.18) इस सूत्र से आ-रूप अच् अपने पूर्वभाग में विद्यमान सम्प्रसारण इ-वर्ण के रूप में एक हो जाता है। जिससे 'ज् इ त' यह रूप बना, इसके बाद "ल्वादिभ्यः" (पा. सू. 8.2.44) सूत्र से तकार को नकार होने पर 'हलः' इस सूत्र से ज्-रूप हल् प्रत्याहार के बाद इ को दीर्घ हो जाता है, जिससे 'जीनः' पद निष्पन्न होता है। इसी प्रकार हल् के बाद सम्प्रसारण उकार के दीर्घ का उदाहरण 'हूतः' पद है।

निष्कर्ष यह है कि इस सूत्र से सब जगह हल् प्रत्याहार से अव्यवहित उत्तर में विद्यमान सम्प्रसारण ह्रस्व वर्ण को दीर्घ होता है।

16. हलश्च (3.3.121) पूर्वसूत्र के समान यह सूत्र भी हल् प्रत्याहार के पञ्चमी विभक्ति का पद है, किन्तु इसका अर्थ भिन्न है। पूर्वसूत्र से दीर्घ होता है और इससे घञ् प्रत्यय। इस सूत्र में 'अवे तृस्त्रोर्घञ्' (पा. सू. 3.3.120) सूत्र से घञ् का अनुवर्तन होता है। अनुवर्तन के लिए ही इस सूत्र में चकार का योग है। 'हलः' यह पञ्चम्यन्त पद धातु का विशेषण है। अतः हलन्त धातु से घञ् प्रत्यय हो, यह सूत्रार्थ हुआ, जिससे हलन्त रम् धातु से घञ् प्रत्यय होने पर 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' इस निरुक्ति में राम पद निष्पन्न होता है।

पाणिनि के सूत्रों में एकरूपता होने पर भी प्रकरण-भेद से अर्थ भिन्न हो जाते हैं। जैसा कि "दश्च 7.2.109" "दश्च 8.2.75" ये दो सूत्र एक रूपवाले हैं, किन्तु पहले सूत्र से इदम् शब्द के दकार को मकार होता है, जिससे 'इमौ' 'इमे' आदि पद बनते हैं और दूसरे सूत्र से पदान्त दकार को विकल्प से रु होता है, जिससे विद् धातु

के लङ् लकार में सिप् प्रत्यय का रूप 'अवेः' हो जाता है।

इसी प्रकार "धातोः 3.1.97" यह एक अधिकार सूत्र है तो दूसरा "धातोः 6.1.168" धातु को अन्त उदात्त करता है। यद्यपि पहला पञ्चम्यन्त पद है और दूसरा षष्ठ्यन्त, फिर भी वर्णानुपूर्वी दोनों की एक है। इसी प्रकार यहाँ आनुपूर्वी एक होने पर भी प्रथम 'हलः' सूत्र से दीर्घ और दूसरे से घञ् प्रत्यय का विधान होता है।

17. झयः (5.4.111)

18. झयः (8.2.10) ये दो सूत्र भी प्रत्याहारात्मक पञ्चम्यन्त पद तथा स्वरूपतः एक होते हुए भी भिन्नार्थक हैं। पहले सूत्र से टच् प्रत्यय होता है और दूसरे से मकार को वकार। एक का सम्बन्ध अव्ययीभाव समास से है तो दूसरे का तद्धित के मतुप् प्रत्यय से। 'समिधः समीपम्' इस अव्ययीभाव समास के विग्रह में 'उपसमिधम्, उपसमित्' इन पदों की सिद्धि के लिए झय् प्रत्याहारान्त अव्ययीभाव से वैकल्पिक टच्- प्रत्यय करनेवाला सूत्र झयः (5.4.111) है और 'मरुद् अस्त्यस्मिन्, विद्युद् अस्त्यस्मिन्' आदि व्युत्पत्तियों से "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्"(पा. सू. 5.2.94) इस सूत्र के द्वारा मतुप् होने पर मकार को वकार करने के लिए झय्-प्रत्याहारान्त प्रातिपदिक से विहित मतुप् के मकार को वकार हो-इस अर्थ वाला दूसरा 'झयः' (8.2.10) सूत्र है। इसमें "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" (पा. सू.8.2.9) इस पूर्व सूत्र से 'मतोर्वः' का अनुवर्तन होता है, जिससे उद्देश्य और विधेय की प्रतीति होती है, क्योंकि 'झयः' सूत्र तो केवल पूर्वनिमित्त का बोधक है।

19. इणः षः (8.3.39) 'इणः' यह पञ्चम्यन्त प्रत्याहार पद पूर्व निमित्तक है। इसमें "विसर्जनीयस्य सः" (पा. सू.8.3.34) सूत्र से 'विसर्जनीयस्य' इस उद्देश्य पद का और "कुप्वोः क पौ च" (पा. सू.8.3.37) सूत्र से 'कुप्वोः' इस निमित्त पद का अनुवर्तन होता है। जिससे सूत्र का अर्थ होता है कि पद के आदि से भिन्न कवर्ग-पवर्ग पर में हों तो इण् प्रत्याहार के बाद विसर्ग को षकार होता है। जिसके उदाहरण हैं सर्पिष्पाशम्, सर्पिष्कल्पम्, सर्पिष्कम् आदि पद। इनमें पाशप्, कल्प और क ये प्रत्यय मात्र हैं। अतः पद न होने के कारण अपदादि कवर्ग-पवर्ग के निमित्त होने से इस सूत्र के द्वारा विसर्ग के स्थान में मूर्धन्य षकार हो जाता है।

20. हलि च (8.2.77) यह वर्णसमाम्नाय के व्यञ्जन वर्ण का सबसे व्यापक प्रत्याहारात्मक सूत्र है। इसमें सभी व्यञ्जन वर्णों का संकेत है तथा सप्तम्यन्त पद होने के कारण परनिमित्तक है। अतः इस सूत्र से हल् अर्थात् व्यञ्जन वर्ण पर में हो तो रेफान्त और वान्त धातु के उपधा में विद्यमान इक् (इ उ ऋ ऌ) को दीर्घ होता है। गीर्यति, पूर्यति, दीव्यति आदि पद इसके उदाहरण हैं।

21. हशि च (6.1.114) 'हशि' यह सप्तम्यन्त प्रत्याहार पद परनिमित्तक है। इसमें "अतो रोरप्लुतादप्लुते" (पा. सू. 6. 1.113) इस पूर्व सूत्र से 'अतो रोरप्लुतात्' इस अंश की ही अनुवृत्ति होती है, क्योंकि 'अप्लुते' की जगह पर यहाँ 'हशि' पद है। अतः सूत्र का अर्थ है कि हश् प्रत्याहार पर में हो तो अप्लुत अकार के बाद रु को उकार हो जाय। जैसा कि 'शिवो वन्द्यः, मनोरथः' आदि प्रयोगों के 'शिवस् वन्द्यः, मनस् रथः' इस सन्धि-विच्छेदावस्था में पदान्त सकार को रु होने पर हश् प्रत्याहार के व और र वर्ण को निमित्त मानकर रु को इस सूत्र से उ हुआ, फिर अ और उ वर्ण के स्थान में ओकार रूप एकादेश हुआ है, जिसे गुण कहते हैं।

22. वा शरि (8.3.36) 'शरि' यह सप्तम्यन्त प्रत्याहार पद भी परनिमित्तक है और 'वा' विकल्पार्थक है। इसमें "विसर्जनीयस्य सः" सूत्र से 'विसर्जनीयस्य' इस उद्देश्य पद का और "शर्परे विसर्जनीयः" (पा. सू. 8.3.35) इस सूत्र से विधेय 'विसर्जनीय' पद का अनुवर्तन होता है। अतः पूर्वोक्त शर्परक खर् प्रत्याहार को निमित्त मानकर होने वाली नित्य विसर्गविधि को केवल शर् प्रत्याहार पर में हो तो विकल्प से विसर्ग विधि होती है। जिससे 'हरिःशेते, हरिश्शेते' ये दोनों रूप निष्पन्न होते हैं।

23. सुपः (1.4.103) सुप् प्रत्याहार का सम्बन्ध "स्वौजसमौट्- (पा. सू. 4.1.2) सूत्र से है। इसमें सु से प् तक के सभी इक्कीस प्रत्ययों का संकेत है, जो प्रातिपदिक संज्ञक शब्दों के सम्बन्धी हैं। इन प्रत्ययों के योग से ही राम, कृष्ण आदि शब्द इक्कीस रूप धारण कर लेते हैं।

इस सूत्र में "तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः"(पा. सू. 1.4.101) सूत्र से 'त्रीणि त्रीणि' पद का तथा "तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः" (पा. सू. 1. 4. 102) सूत्र से 'तानि' इस पद को छोड़कर शेष सम्पूर्ण सूत्र का अनुवर्तन होता है। क्योंकि 'तानि' यह सर्वनाम पद प्रसङ्गतः प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञक तिङन्त पद का परामर्शक है। सात विभिक्तियों से सम्बन्ध रखनेवाला इस सुप् प्रत्याहार के प्रत्येक विभक्ति के तीन-तीन प्रत्ययों को क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है। जिससे 'रामः, रामौ, रामाः' क्रमशः एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन संज्ञक पद कहलाते हैं।

24. सुप्तिङन्तं पदम् (1.4.14) यह भी संज्ञाविधायक सूत्र है। इसमें पूर्वोक्त सुप् प्रत्याहार तथा "तिप्तसझि-" (पा. सू. 3.4.78) आदि सूत्र से सम्बन्धित अठारह प्रत्ययों का द्योतक तिङ् प्रत्याहार है। सूत्र का अर्थ है कि सुबन्त और तिङन्त शब्द को पदसंज्ञा होती है। शब्द जब पद बनता है, तभी उसका प्रयोग होता है। अपद शब्द का प्रयोग अशुद्ध माना जाता है। शब्द के साथ सुप् या तिङ्प्रत्याहार के योग करने के बाद यदि किसी विशेष नियम से सुप् या तिङ् प्रत्ययों का अदर्शन भी हो जाता है तो भी उसे पद माना जाता है, क्योंकि जो शेष प्रकृति बची रहती है, वह अपने लुप्त प्रत्ययों के संस्कार से

युक्त रहती है। इसीलिए 'हे राम, अहन्' आदि शब्द भी पद हैं और इनका स्वतन्त्र प्रयोग होता है।

इस प्रकार इन चौबीस प्रत्याहारात्मक सूत्रों का व्याख्यानात्मक परिचय सम्पन्न हुआ।

2. प्रत्याहारघटित सूत्र

प्रत्याहारात्मक सूत्रों की समीक्षा के बाद अब उन सूत्रों का विवेचन प्रस्तुत है, जो एक या दो प्रत्याहारों से सम्बन्धित हैं। अर्थात् जिनमें प्रत्याहार-संज्ञक पद के अलावा दूसरे पद भी हैं। उन सूत्रों के विवेचन में वर्णसमाम्नाय के अनुबन्धों का क्रम यहाँ रखा गया है। प्रायः एक अनुबन्ध से अनेक प्रत्याहार बनते हैं, अतः प्रथम, द्वितीय आदि वर्णसमाम्नायरूप चौदह सूत्रों के अनुबन्धों से बने हुए प्रत्याहारों से युक्त तथा उनसे सम्बद्ध-सूत्रों का सोदाहरण परिचय क्रमशः यहाँ प्रस्तुत है।

1. अण् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

अइउण् (मा. सू. 1) वर्णसमाम्नाय के इस प्रथम सूत्र के णकार अनुबन्ध से केवल 'अण्' प्रत्याहार बनता है, जिसका उपयोग निम्नलिखित चार सूत्रों में हुआ है-

	सूत्र		उदाहरण
1.	उरण् रपरः	1.1.51	कृष्णर्द्धिः, तवल्कारः
2.	ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः	6.3.111	लीढः, हरीरम्यः
3.	केऽणः	7.4.13	कुमारिका
4.	अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः	8.4.57	दधिँ, दधि

1. उरण् रपरः (1.1.51) इस सूत्र का 'उः' पद ऋवर्ण के षष्ठी विभक्ति का रूप है। अतः 'ऋ' के स्थान में विहित अण् (अ इ उ) उत्तरावयव के रूप में 'र' को ग्रहण करके ही प्रयुक्त होता है जैसा कि-'कृष्ण+ऋर्द्धिः' इस अवस्था में अवर्ण से परे अच् रहने पर "आद् गुणः" (पा. सू. 6.1.87) सूत्र से विधीयमान अरूप गुण-एकादेश 'अर्' रूप से उपयुक्त होने पर 'कृष्णर्द्धिः' पद सिद्ध होता है। कृ+अति=किरति, द्विमातृ+अण्=द्वैमातुरः- क्रमशः इर्, उर् के उदाहरण हैं।

2. ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (6.3.111) इस सूत्र का अर्थ है कि ढकार तथा रेफ को निमित्त मानकर ढकार और रेफ का लोप होने पर पूर्ववर्ती अण् को दीर्घ होता है ,जैसा कि- लिह् धातु से क्त-प्रत्यय होने पर 'लिह्+त' में "हो ढः" (पा. सू. 8.2.31) सूत्र से हकार को ढकार, "झषस्तथो-र्धोऽधः" (पा. सू. 8.2.40) सूत्र से तकार को

धकार तथा "ष्टुना ष्टुः" (पा. सू.8.4.41) सूत्र से धकार को ढकार होने पर "ढो ढे लोपः" (पा. सू. 8.3.13) सूत्र से पहले ढकार का लोप हो जाता है। इसके बाद उक्त सूत्र से लकारोत्तरवर्ती इकार को दीर्घ होने से 'लीढ़ः' पद की सिद्धि होती है। 'हरीरम्यः' पद रेफ परे रेफ लोप होने पर दीर्घ का उदाहरण है। 'हरिर्+रम्यः' इस अवस्था में "रो रि" (पा. सू. 8.3.14) सूत्र से रेफ लोप होकर हकारोत्तर-वर्ती इकार को दीर्घ हुआ है। इन दो सूत्रों के अण् का सम्बन्ध अन्य किसी सूत्र से नहीं है।

3. केऽणः (०1.1.51) इस सूत्र में "शृदृप्रां ह्रस्वो वा" (पा. सू. 7. 4. 12) सूत्र से 'ह्रस्व' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- कप्रत्यय पर में हो तो अण् को ह्रस्व होता है। कुमारिका, किशोरिका आदि पद इसके उदाहरण हैं।

इस सूत्र के अण् प्रत्याहार का अनुवर्तन "न कपि" (पा. सू. 7. 4. 14) इस निषेधसूत्र में भी हुआ है। अतः- बहुकुमारीकः, बहुवधूकः आदि पदों में कप्-प्रत्यय पर में रहने से ईकार को ह्रस्व नहीं हुआ।

4. अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (8. 4. 57) इस सूत्र में "वाऽवसाने" (पा. सू. 8. 4. 56) सूत्र का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि वर्णों के अभावरूप निमित्त में प्रगृह्यसंज्ञक से भिन्न अण् को विकल्प से अनुनासिक होता है। जैसा कि-दधिँ, मधुँ आदि में इकार-उकार को अनुनासिक हो गया है। इस सूत्र के अण् का उपयोग अन्य सूत्रों में नहीं होता है।

2. अक् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

ऋलृक् (मा. सू. 2) इस सूत्र के ककार अनुबन्ध से अक्, इक्, उक् ये तीन प्रत्याहार बनते हैं, जो अधोलिखित सूत्रों में निर्दिष्ट हैं-

सूत्र		उदाहरण
1. अकःसवर्णे दीर्घः	(6.1.101)	दण्डाग्रम्
2. ऋत्यकः	(6.1.128)	ब्रह्मऋषिः-ब्रह्मर्षिः
3. नाग्लोपिशास्वृदिताम्	(7.4.2)	अममालत्, अममातत्
4. सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे	(7.4.93)	अचीकमत्

1. अकः सवर्णे दीर्घः (6.1.101) इस सूत्र के अक् प्रत्याहार का सम्बन्ध "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (पा. सू. 6.1.102) तथा "अमि पूर्वः"(पा. सू. 6.1.107) सूत्र में है और "इको यणचि" (पा. सू. 6.1.77) सूत्र के 'अचि' इस सप्तम्यन्त प्रत्याहार का सम्बन्ध तो "अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्र में तथा उक्त दोनों सूत्रों में भी है। इसीलिए दीर्घ, पूर्वसवर्ण-दीर्घ तथा पूर्वरूप ये तीनों-कार्य अक् प्रत्याहार को पूर्वनिमित्त एवम् अच्

प्रत्याहार को परनिमित्त मानकर होते हैं।

2. ऋत्यकः (6.1.128) इस सूत्र में "इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च" सूत्र से 'शाकल्यस्य' तथा 'ह्रस्वश्च' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- ऋकार पर में हो तो अक् प्रकृतिस्थ रहता है और यदि वह अक् दीर्घ हो तो उसे ह्रस्व भी होता है शाकल्य आचार्य के मत में। इस सूत्र के अक् प्रत्याहार का सम्बन्ध किसी अन्य सूत्र में नहीं है।

3. नाग्लोपिशास्वृदिताम् (7.4.2) इस सूत्र में "णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः" (पा. सू. 7.4.1) सूत्र का सम्बन्ध है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- चङ्परक णिच् प्रत्यय पर में हो और णिच्-प्रत्यय मानकर अक् (अ इ उ ऋ ऌ) का लोप हुआ हो तो, उन अग्लोपी धातु के उपधावर्ण तथा ऋदित् धातुओं के उपधावर्ण को ह्रस्व नहीं होता है। इनमें अग्लोपी उपधा के ह्रस्वनिषेध के उदाहरण हैं- मालामाख्यत् अममालत्, मातरमाख्यत् अममातत् आदि।

वस्तुतः अग्लोप से यहाँ हल् और अच् दोनों के लोप में तात्पर्य है, क्योंकि- अममालत् में णिच् को मानकर अक् के लोप का तो स्थानिवद्भाव से भी ह्रस्व का वारण सम्भव है। अतः यहाँ का अक् प्रत्याहार गौण है मुख्य नहीं। इसीलिए इस अक् प्रत्याहार का सम्बन्ध अगले किसी सूत्र में नहीं है।

4. सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (7.4.93) इस सूत्र में अक् प्रत्याहार प्रतिषेधरूप से गृहीत है, जिसका अर्थ है कि- यदि अक् प्रत्याहार का लोप न हुआ हो तो लघुसंज्ञक धात्वक्षर और चङ्परक णिच् प्रत्यय के परे अभ्यास को सन् के समान सब कार्य होते हैं। अर्थात् सन्-प्रत्यय को निमित्त मानकर जो इत्त्व, दीर्घ आदि कार्य होते हैं, उन सबका अतिदेश इस सूत्र के द्वारा किया गया है।

इस प्रतिषेधात्मक अक् प्रत्याहार का सम्बन्ध केवल "दीर्घो लघोः" (7.4.94.) सूत्र से है। इस सूत्र से सन्वद्भाव सम्बन्धी लघुसंज्ञक अभ्यास को दीर्घ होता है, जिसके उदाहरण- अचीकरत्, अचीकमत् आदि पद हैं तथा प्रत्युदाहरण अचकथत्। इस प्रकार अक् प्रत्याहार का उपयोग भाव और अभावरूप से पूर्वोक्त सूत्रों में हुआ है।

3. इक् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

अक् प्रत्याहार की अपेक्षा इक् प्रत्याहार का उपयोग पाणिनि के सूत्रों में अधिक हुआ है, जिसका विवरण इस प्रकार है-

	सूत्र		उदाहरण
1.	इको गुणवृद्धी	1.1.3	भवति, आकार्षीत्
2.	इग्यणः सम्प्रसारणम्	1.1.45	इष्टम्, उप्तम्

3. एच इग्घ्रस्वादेशे	1.1.48	रै- अतिरि, नौ- अतिनु
4. इको झल्	1.2.9	चिचीषति
5. शल इगुपधानिटः क्सः	1.1.45	अधुक्षत्
6. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः	3.1.135	विलिखः, ज्ञः, प्रियः, किरः
7. इगन्ताच्च लघुपूर्वात्	5.1.131	शौचम्, मौनम्
8. इको यणचि	6.1.77	दध्यत्र
9. इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च	6.1.127	चक्रि अत्र, चक्र्यत्र
10. इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ	6.2.29	पञ्चारत्निः
11. इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य	6.3.61	ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः
12. इको वहेऽपीलोः	6.3.121	ऋषीवहम्
13. इकः काशे	6.3.123	नीकाशः, वीकाशः
14. इकः सुञि	6.3.134	अभीषुणः सखीनाम्
15. इकोऽचि विभक्तौ	7.1.73	त्रपुणी
16. र्वोरुपधाया दीर्घ इकः	8.2.76	गीः, धूः, पूः

1. इको गुणवृद्धी (1.1.3) यह परिभाषासूत्र है। परिभाषासूत्र विधिसूत्र के अर्थ में सहायक होता है। यह सूत्र गुण और वृद्धि विधान में सहायक है। इसमें 'इकः' यह प्रत्याहार पद षष्ठ्यन्त तथा उद्देश्य का बोधक है। इसका अर्थ है कि जिन सूत्रों के द्वारा गुण और वृद्धि शब्द का नाम लेकर गुण (अ ए ओ) तथा वृद्धि (आ ऐ औ) का विधान हो, वह इक् के स्थान में हो। जैसा- 'भू अ ति' (भवति) में उ रूप इक् को गुण और 'अ कृ षीत्' (अकार्षीत्) में ऋ रूप इक् को वृद्धि हुई है। इस 'इकः' पद का अनुवर्तन दूसरे किसी सूत्र में नहीं होता है।

2. इग्यणः सम्प्रसारणम् (1.1.45) यह संज्ञासूत्र है। इसका विवेचन प्रत्याहारात्मक सूत्रों में हो चुका है। 'इक्' इस प्रथमान्त प्रत्याहार का अनुवर्तन अन्य सूत्रों में नहीं होता।

3. एच इग्घ्रस्वादेशे (1.1.48) यह विधिसूत्र है जिससे एच् (ए ओ ऐ औ) के स्थान में इक् (इ उ ऋ ऌ) रूप ह्रस्वादेश होता है। इस सूत्र में 'इक्' प्रथमान्त प्रत्याहार पद है। इस इक् का भी अन्य किसी सूत्र में अनुवर्तन नहीं होता।

4. इको झल् (1.2.9.) इगन्त धातु से परे झलादि सन् प्रत्यय को कित् संज्ञा होती है जिसका फल है गुण का निषेध इसका विवेचन भी पहले प्रत्याहारात्मक सूत्रों में हो गया है। इस इक् प्रत्याहार का सम्बन्ध अगले "हलन्ताच्च" (1.2.90) तथा "लिङ्सिचावात्मनेपदेषु" (1.2.99) सूत्रों में है। इन दोनों सूत्रों से भी कित्संज्ञा होती है। पहले सूत्र से इक् के समीप में रहने वाले हल् से परे झलादि सन् को कित्संज्ञा होने से "बिभित्सति, बुभुत्सते" आदि प्रयोगों में "पुगन्तलघूपधस्य च" (पा. सू. 7. 3. 86) सूत्र से प्राप्त

गुण का "क्ङिति च" (1.1.5) सूत्र से कित् मानकर निषेध होता है। दूसरे सूत्र के द्वारा भी इक् समीपस्थ हल् से परवर्ती झलादि-लिङ् एवं झलादि-सिच् को कित्संज्ञा होने से 'भित्सीष्ट, अभित्त' आदि प्रयोगों में गुण का निषेध होता है।

5. शल इगुपधादनिटः क्सः (3.1.45) इस सूत्र से इगुपध शल् प्रत्याहारान्त धातु से विहित अनिट् च्लि-प्रत्यय के स्थान में क्स आदेश होता है, जिससे 'अधुक्षत्' पद की सिद्धि होती है। इस इक् प्रत्याहार का अनुवर्तन दूसरे किसी सूत्र में नहीं होता।

6. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (3.1.135) इस सूत्र का अर्थ है कि उपधा में इक् प्रत्याहारवाले धातु तथा ज्ञा, प्री, कृ- इन तीन धातुओं से भी कप्रत्यय होता है। जिसके फलस्वरूप "विक्षिपतीति विक्षिपः, विलिखतीति विलिखः, तथा-जानातीति ज्ञः, प्रीणातीति प्रियः, किरतीति किरः" पद सिद्ध होते हैं। क- प्रत्यय में ककार व्यञ्जन इत्संज्ञक है, अतः कित् के कारण 'विलिखः' में गुण का निषेध तथा 'ज्ञः' में आकार का लोप होता है। इस इक् प्रत्याहार का अनुवर्तन अगले किसी दूसरे सूत्र में नहीं होता।

7. इगन्ताच्च लघुपूर्वात् (5.1.131) इस सूत्र में "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" (5.1.130) इस पूर्व सूत्र से अण् पद का अनुवर्तन होता है, जो तद्धितीय प्रत्यय है, प्रत्याहार नहीं। अतः सूत्र का अर्थ है कि लघुसंज्ञक अक्षर हो पूर्व में जिसके ऐसे इगन्त सुबन्त पद से भाव एवं कर्म अर्थ के लिए अण् प्रत्यय हो। जैसा कि-"शुचे र्भावः कर्म वा, मुनेर्भावः कर्म वा" इन दोनों अर्थों को बतानेवाले अण् प्रत्यय के सम्बन्ध से मौनम्, शौचम् आदि पद निष्पन्न होते हैं। इस इक् प्रत्याहार का सम्बन्ध दूसरे सूत्रों में नहीं है।

8. इको यणचि (6. 1. 77) इस सूत्र के इक् प्रत्याहार का अनुवर्तन अन्य सूत्र में नहीं हुआ है। इस सूत्र का पूरा विवरण पहले प्रत्याहारात्मक सूत्रों में हो चुका है। यहाँ इक् प्रत्याहार के प्रसङ्ग से पुनः इस सूत्र का स्मरण किया गया है।

9. इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च (6. 1. 127) इस सूत्र का 'इकः' षष्ठ्यन्त प्रत्याहार पद है। इसमें "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्"(पा. सू. 6.1.125) इस पूर्व सूत्र से 'अचि' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्रका अर्थ है कि असवर्ण अच् प्रत्याहार परे में हो तो इक् को ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव हो जाता है आचार्य शाकल्य के मतानुसार। आचार्य का नामतः उल्लेख होने से यह कार्य वैकल्पिक माना जाता है, जिससे 'चक्रि अत्र' और 'चक्र्यत्र' ये दोनों पद प्रयुक्त होते हैं।

10. इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ (6.2.29) यह स्वर-विधायक सूत्र है। इसके द्वारा द्विगु समास के उत्तर पद में इक् प्रत्याहारान्त पद तथा कालवाचक, कपाल, भगाल और शराव शब्द हों तो पूर्वपद का प्रकृति स्वर ही रहता है, जिससे 'पञ्चारत्निः,

पञ्चमारयः आदि पदों में पूर्वपद प्रकृतिस्वर (आद्युदात्त) ही रह गया।

इस पूरे सूत्र का अनुवर्तन अगले "बह्वन्यतरस्याम्" (6.2.30) सूत्र में होता है। जिसका अर्थ है कि- यदि बहु पद पूर्व में हो और पूर्वोक्त इगन्त, कपाल आदि पर में हो तो बहु शब्द का स्वर ही द्विगु समास में भी हो विकल्प से। अतः 'बहुमास्यः, बहुकपालः' आदि वैकल्पिक अन्तोदात्त पद हैं।

11. इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (6.3.61) यह विधिसूत्र है। इसमें 'इकः' यह षष्ठ्यन्त प्रत्याहार पद है। जिसका अर्थ है कि आचार्य गालव के मत से ङी-प्रत्ययान्त से भिन्न इगन्त शब्द के स्थान में उत्तर पद के परे होने पर ह्रस्व होता है जिससे- 'ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः, ब्रह्मबन्धुपुत्रः, ब्रह्मबन्धूपुत्रः' आदि प्रयोगों में ईकार तथा ऊकार को विकल्प से ह्रस्व हुआ है। इस इक् का अनुवर्तन अन्य किसी सूत्र में नहीं होता है।

12. इको वहेऽपीलोः (6.3.121) यह दीर्घ विधायक सूत्र है। इसका अर्थ है कि 'वह' शब्द उत्तरपद में हो तो इगन्त पूर्वपद को दीर्घ होता है पीलु शब्द को छोड़कर। जिससे-'ऋषीवहम्, कपीवहम्, मुनीवहम्' आदि प्रयोगों में ऋषि, कपि, मुनि के इकार को दीर्घ हुआ है। इस इक् का सम्बन्ध अगले "उपसर्गस्य घञ्मनुष्ये बहुलम्" (6.3.122) सूत्र से नहीं है। अतः 'अपामार्गः' में 'अप' उपसर्ग के अकार को भी दीर्घ हुआ है।

13. इकः काशे (6.3.123) इस सूत्र से भी इक् को दीर्घ होता है काश उत्तर पद पर में हो तो इसमें पूर्व सूत्र " उपसर्गस्य घञ्मनुष्ये बहुलम्" से 'उपसर्गस्य' इस पद का अनुवर्तन होता है और दीर्घपद तो बहुत पहले "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (6.3.111) सूत्र से अनुवर्तित होता ही है। अतः इगन्त उपसर्ग पद को दीर्घ का विधान इस सूत्र से होता है। जिससे- 'नीकाशः, वीकाशः' में नि और वि को दीर्घ हुआ है।

इस इक् प्रत्याहार का अनुवर्तन अगले "दस्ति" (6.3.124) सूत्र में भी होता है। जिससे-नीत्तम्, वीत्तम्, परीत्तम् आदि पदों के इगन्त उपसर्ग को तादि प्रत्यय परे रहते दीर्घ हुआ है।

14. इकः सुञि (6.3.134) यह सूत्र वैदिक इगन्त पद को दीर्घ करता है, क्योंकि "ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्" (पा. सू. 6.3.133) इस पूर्व सूत्र से 'ऋचि' पद का इसमें सम्बन्ध है। अतः सूत्र का अर्थ है कि-सुञ् यह निपात पद पर में हो तो इगन्त शब्द को दीर्घ होता है मन्त्र में। जिससे 'अभीषुणः सखीनाम्, ऊषुण ऊतये' आदि प्रयोग में भी अभि और उ को दीर्घ हुआ है। इस इक् का सम्बन्ध दूसरे किसी सूत्र से नहीं है।

15. इकोऽचि विभक्तौ (7.1.73) इस सूत्र से अजादि विभक्ति पर में हो तो इगन्त नपुंसक पद को नुम् का आगम होता है। जिससे-त्रपुणी, मधुनी आदि पदों की सिद्धि होती है। इस सूत्र का विशद विवेचन प्रत्याहारात्मक सूत्रों में हो चुका है। इस इक् पद का भी

अनुवर्तन अन्य सूत्रों में नहीं होता।

16. र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (8.2.76) इस सूत्र से रेफान्त तथा वकारान्त पदसंज्ञक धातु के उपधाभूत इक् को दीर्घ होता है, जिससे गीः, धूः, पूः, आशीः आदि पदों की सिद्धि होती है।

इस इक् प्रत्याहार का सम्बन्ध अगले "हलि च" (पा. सू. 8.2.77) तथा "उपधायां च" (पा. सू. 8.2.78) सूत्रों से भी है। पहले सूत्र से हल् प्रत्याहार पर में हो तो रेफान्त तथा वकारान्त धातु के उपधाभूत इक् को दीर्घ होता है। आस्तीर्णम्, विशीर्णम्, दीव्यति आदि प्रयोग इसके उदाहरण हैं।

दूसरे सूत्र में "हलि च" सूत्र का तथा "र्वोरुपधाया दीर्घ इकः" इस सूत्र का भी अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि धातु का अवयव पर में हो तो धातूपधाभूत रेफ अथवा वकार के उपधास्थानीय इक् को दीर्घ हो। जैसा कि हुर्छा-मुर्छा धातु से-हूर्छति, हूर्छिता, मूर्छति, मूर्छिता आदि पदों के इक् 'हु' और 'मु' के उकार को दीर्घ हुआ है।

इस प्रकार इक् प्रत्याहार से युक्त सोलह सूत्र हैं और इक् प्रत्याहार से सम्बद्ध छः सूत्र और हैं। जिन बाईस सूत्रों का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया, उनमें "इग्यणः सम्प्रसारणम्" (पा. सू. 1.1.45) "इको झल्" (1.2.9) "हलन्ताच्च" (1.2.10) और लिङ्सिचावात्मनेपदेषु"(पा. सू. 1.2.11) ये चार संज्ञासूत्र हैं तथा "इको गुणवृद्धी" (पा. सू. 1.1.3) परिभाषा सूत्र। इनके अतिरिक्त सत्रह विधिसूत्र हैं। यहाँ परिभाषा तथा विधि-सूत्रों में इक् प्रत्याहार षष्ठ्यन्त पद और संज्ञासूत्रों में प्रथमान्त पद के रूप में उपयुक्त हुआ है।

4. उक् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

क-अनुबन्ध से बननेवाला तृतीय 'उक्' प्रत्याहार का उपयोग निम्नलिखित चार सूत्रों में हुआ है-

सूत्र		उदाहरण
1. उगितश्च	4.1.6.	भवन्ती, पचन्ती
2. उगितश्च	6.3.45	श्रेयसितरा, श्रेयसीतरा
3. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः	7.1.70	भवान्
4. श्र्युकः किति	7.2.11	श्रित्वा, श्रितः

1. उगितश्च (4.1.6) प्रथम "उगितश्च" सूत्र का अर्थ है कि उक् प्रत्याहार की इत्संज्ञा हो जिसमें, ऐसे प्रातिपदिक शब्द से ङीप् प्रत्यय होता है। जिससे भू और पच् धातु से शतृ प्रत्यय होने पर शकार और ऋकार की इत्संज्ञा होने से स्त्रीलिङ्ग ङीप् प्रत्यय के सम्बन्ध

से भवन्ती और पचन्ती ये पद बनते हैं। इस उक् का दूसरे सूत्र में उपयोग नहीं होता।

2. उगितश्च (6.3.45) द्वितीय 'उगितश्च' विधिसूत्र है, इससे उक् प्रत्याहार की इत्संज्ञा हो जिसमें, ऐसे नदीसंज्ञक पद को विकल्प से ह्रस्व होता है घसंज्ञक-तरप् एवं तपम् प्रत्यय परे रहते। जिससे-श्रेयसितरा-श्रेयसीतरा, विदुषितरा-विदुषीतरा आदि प्रयोगों में ईकार को विकल्प से ह्रस्व हुआ है। 'श्रेयसी' में इयसुन् और 'विदुषी' में वसु-प्रत्यय का योग है। ये दोनों प्रत्यय उकार इत्संज्ञक हैं अतः उगित् प्रकृतिवाले हैं। इस उक् का सम्बन्ध अन्य सूत्रों से नहीं है।

3. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (7.1.70) इस सूत्र से धातुभिन्न उगित् अङ्ग-संज्ञक तथा अञ्चु् धातु को सर्वनामस्थान के परे नुम् का आगम होता है, जिससे भवान्, श्रेयान्, प्राङ् आदि पद निष्पन्न होते हैं। इस उक् प्रत्याहार का अनुवर्तन अन्य सूत्रों में नहीं होता।

4. श्र्युकः किति (7.2.11) इस सूत्र से कित् प्रत्यय के परे 'श्रि' तथा उगन्त धातुओं को इट् आगम का निषेध होता है। जिससे-'श्रि धातु' से क्त्वा एवं क्त-प्रत्यय होने पर "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" सूत्र के द्वारा प्राप्त इट् का निषेध हो गया। उगन्त धातु के उदाहरण-युत्वा, युतः, लूत्वा, लूनः आदि पद हैं, जिनमें इट् का निषेध हुआ है।

इस उक् का सम्बन्ध अगले "सनि ग्रहगुहोश्च" सूत्र से है। जिससे- सन् प्रत्यय के परे ग्रह, गुह तथा उगन्त धातुओं को इडागम नहीं होता। अतः जिघृक्षति, जुघुक्षति तथा रुरूषति आदि पदों में इट् नहीं हुआ।

5. एङ् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

एओङ् (मा. सू. 3.) इस सूत्र के ङ्कार अनुबन्ध से केवल एक एङ् प्रत्याहार बनता है, जिसका उपयोग निम्नलिखित सूत्रों में हुआ है-

	सूत्र		उदाहरण
1.	अदेङ् गुणः	1.1.2	कृष्णर्द्धिः, रमेशः, गङ्गोदकम्
2.	एङ् प्राचां देशे	1.1.75	एणीपचनीयः
3.	एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः	6.1.69	हे अग्ने! हे वायो!
4.	एङि पररूपम्	6.1.94	प्रेजते, उपोषति

1. अदेङ् गुणः (1.1.2) इससे अत् (ह्रस्व अकार) तथा एङ् (ए ओ) को गुणसंज्ञा होती है। क्रमशः- कृष्णर्द्धिः, रमेशः, गङ्गोदकम् आदि पद इसके उदाहरण हैं। इस एङ् प्रत्याहार का अन्य सूत्रों से सम्बन्ध नहीं है।

2. एङ् प्राचां देशे (1.1.75) यह भी संज्ञासूत्र है। देशवाची शब्दों में यदि आदि स्वर एङ् प्रत्याहारवाला हो तो उसे 'वृद्ध' संज्ञा होती है, जिसका प्रयोजन है "वृद्धाच्छः" (4.2.114) सूत्र से छ-प्रत्यय का विधान। जैसा कि- एणीपचनीयः, भोजकटीयः, गोनर्दीयः आदि शब्दों में ए, भो, गो को वृद्धसंज्ञा होने से छ-प्रत्यय हुआ है। इस एङ् का भी अनुवर्तन अन्य सूत्रों में नहीं होता।

3. एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (6.1.59) यह विधिसूत्र है। इससे एङन्त तथा ह्रस्वान्त प्रातिपदिक से परे सम्बुद्ध्यङ्गभूत हल् का लोप होता है। जैसा कि- हे अग्ने! हे वायो! आदि पदों में सम्बुद्धि सु के अवयव हल् का लोप हुआ है। इस एङ् का भी अन्य सूत्रों से सम्बन्ध नहीं है।

4. एङि पररूपम् (6.1.94) यह भी विधिसूत्र है। इस सूत्र में पूर्वसूत्र से 'आत्, उपसर्गात् और धातौ' पदों का अनुवर्तन होता है। अतः इस सूत्र का अर्थ है। कि अवर्णान्त, उपसर्ग के बाद एङादि धातु पर में हो तो पूर्व और पर के स्थान में पररूप एक आदेश हो जाता है। जैसा कि प्र+एजते=प्रेजते, उप+ओषति=उपोषति पद के उपसर्ग का अकार 'ए' और 'ओ' रूप में मिलकर एक हो गया है। इस एङ् का अनुवर्तन अन्य सूत्रों में नहीं होता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि एङ् प्रत्याहार से घटित इन चार सूत्रों में दो संज्ञासूत्र हैं और दो विधिसूत्र। इनमें ही केवल एङ् का उपयोग है, इनसे अतिरिक्त किसी सूत्र में इस प्रत्याहार का सम्बन्ध नहीं है।

6. अच् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

ऐऔच् (मा. सू. 4) चकार अनुबन्ध से बननेवाले अच्, इच्, एच् और ऐच् ये चार प्रत्याहार हैं। इनमें अच् प्रत्याहारघटित 89 सूत्र हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है-

	सूत्र		उदाहरण
1.	नाज्झलौ	1.1.10	दण्डहस्तः, दधि हरति
2.	निपातएकाजनाङ्	1.1.14	इ इन्द्रः, उ उमेशः
3.	मिदचोऽन्त्यात्परः	1.1.47	यशांसि
4.	अचः परस्मिन् पूर्वविधौ	1.1.57	सुद्ध्युपास्यः
5.	द्विर्वचनेऽचि	1.1.59	एधाञ्चक्रे
6.	अचोऽन्त्यादि टि	1.1.64	मनीषा
7.	वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्	1.1.73	शालीयः, मालीयः
8.	ऊकालोऽज्- ह्रस्वदीर्घप्लुतः	1.2.27	मधु, कुमारी, देवदत्त३
9.	अचश्च	1.2.28	अतिरि, चीयते, देवदत्त३

	सूत्र		उदाहरण
10.	उपदेशेऽजनुनासिक इत्	1.3.2	एधते, स्पर्द्धते
11.	यचि भम्	1.4.18	गार्ग्यः, दाक्षिः
12.	अजाद्यदन्तम्	2.2.33	ईशकृष्णौ
13.	अल्पाच्तरम्	2.2.34	शिवकेशवौ
14.	बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु	2.4.66	पन्नागाराः
15	धातोरेकाचो हलादेः क्रिया-समभिहारे यङ्	3.1.22	बोभूयते
16.	अचः कर्मकर्तरि	3.1.62	अकारि-अकृत
17.	अचो यत्	3.1.97	चेयम् जेयम्
18.	न क्रोडादिबह्वचः	4.1.56	कल्याणक्रोडा, सुजघना
19.	गोत्रेऽलुगचि	4.1.89	गार्गीयाः
20.	द्व्यचः	4.1.121	दात्तेयः, गौपेयः
21.	अणो द्व्यचः	4.1.156	कार्त्रायणिः
22.	मतोश्च बह्वजङ्गात्	4.2.72	सैध्रकावतम्
23.	बह्वचः कूपेषु	4.2.73	दैर्घवरत्रः कूपः
24.	उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात्	4.2.109	शैवपुरम्
25.	न द्व्यचः प्राच्यभरतेषु	4.2.113	प्रौष्ठीयाः
26.	बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ्	4.3.67	षात्वणत्विकम्
27.	द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रार्थनाध्वरपुर-श्चरणनामाख्याताट् ठक्	4.3.72	ऐष्टिकः, पाशुकः
28.	द्व्यचश्छन्दसि	4.3.150	पर्णमयी,दर्भमयम्
29.	नौद्व्यचष्ठन्	4.4.7	घटिकः,बाहुकः
30.	बह्वच्पूर्वपदाट्ठच्	4.4.64	द्वादशान्यिकः
31	गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमा-णाश्वादे र्यत्	5.1.39	धन्यम्, स्वर्ग्यम्
32.	अजादी गुणवचनादेव	5.3.58	पटीयान्, लघिष्ठः
33.	बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा	5.3.78	देविकः देवदत्तकः
34.	ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः	5.3.83	देविकः, देवियः, देविलः
35.	एकाचो द्वे प्रथमस्य	6.1.1	बभूव
36.	अजादेर्द्वितीयस्य	6.1.2	अटिटिषति
37.	इको यणचि	6.1.77	सुद्ध्युपास्यः
38.	प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्	6.1.125	एहि कृष्ण३ अत्र, हरी एतौ
39.	सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्	6.1.134	सेमामविड्ढि, सैष दाशरथीरामः
40.	सावेकाचस्तृतीयादिविभक्तिः	6.1.168	वाचा, वाग्भ्याम्

	सूत्र		उदाहरण
41.	शतुरनुमो नद्यजादी	6.1.173	तुदती, नुदती
42.	स्वपादिहिंसामच्यनिटि	6.1.188	स्वपन्ति, श्वसन्ति, हिंसन्ति
43.	अचः कर्तृयकि	6.1.195	लूयते, स्तार्यते
44.	निष्ठा च द्व्यजनात्	6.1.205	दत्तः, गुप्तः, बुद्धः
45.	अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः	6.2.83	उपसरजः
46.	अर्मे चावर्णं द्व्यच्त्र्यच्	6.2.90	दत्तार्मम्, कुक्कुटार्मम्
47.	आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि	6.2.119	अधा स्वश्वास्त्वा
48.	शितेर्नित्याबह्वज् बहुव्रीहावभसत्	6.2.138	शितिपादः, शित्यंसः
49.	उपाद् द्व्यजजिनमगौरादयः	6.2.194	उपदेवः, उपेन्द्रः
50.	घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः	6.3.43	ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणिरूपा
51.	अरुर्द्विशदजन्तस्य मुम्	6.3.67	कालिंमन्या
52.	इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च	6.3.68	गांमन्यः
53.	तस्मान्नुडचि	6.3.74	अनश्वः
54.	कोः कत्तत्पुरुषेऽचि	6.3.101	कदश्वः, कदन्नम्
55.	मतौ वह्वचोऽनजिरादीनाम्	6.3.119	उदुम्वरावती, मशकावती
56.	द्व्यचोऽतस्तिङः	6.3.135	विद्मा हि त्वा सत्पतिं शूर गोनाम्
57.	अज्झनगमां सनि	6.4.16	तुष्टूषति, चिकीषति-चिचीषति
58.	स्यसिच्सियुट्तासिषु भावकर्म्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च	6.4.62	चायिष्यते-चेष्यते
59.	दीङो युडचि क्ङिति	6.4.63	दिदीये
60.	आडजादीनाम्	6.4.72	ऐधत, आतीत्
61.	अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ	6.4.77	नियौ, सुधियः,स्वयम्भुवौ
62.	एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य	6.4.82	कुमार्यौ वातप्रम्यौ
63.	प्रकृत्यैकाच्	6.4.163	श्रेष्ठः, श्रेयान्
64.	रधिजभोरचि	7.1.61	रन्धकः, जम्भकः
65.	नपुंसकस्य झलचः	7.1.72	पयांसि, ज्ञानानि
66.	इकोऽचि विभक्तौ	7.1.73	वारिणी, मधुनी, धातृणि
67.	विभाषा तृतीयादिष्वचि	7.1.97	क्रोष्ट्रा-क्रोष्टुना
68.	वदव्रजहलन्तस्याचः	7.2.3	अवादीत्, अव्राजीत्
69.	एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्	7.2.90	नेता, चेता
70.	अचस्तास्वत्. थल्यनिटो नित्यम्	7.2.61	निनेथ, चिचेथ
71	वस्वेकाजाद्घसाम्	7.2.67	आशिवान्, ददिवान्
72.	योऽचि	7.2.89	त्वया, मया

	सूत्र		उदाहरण
73	अचि र ऋतः	7.2.100	तिस्रः, चतस्रः
74.	अचो ञ्णिति	7.2.115	गौः, गावौ, गावः
75.	तद्धितेष्वचामादेः	7.2.117	औपगवः, गार्ग्यः
76.	क्सस्याचि	7.3.72	अधुक्षाताम्
77.	नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके	7.3.87	नेनिजानि
78.	अच उपसर्गात्तः	7.4.47	प्रत्तम्, अवत्तम्
79.	सनि मीमाघुरभलभशक-पतपदामच इस्	7.4.54	मित्सति, दित्सति, शिक्षति
80.	अचि विभाषा	8.2.21	गि लति-गिरति
81.	एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः	8.2.37	धुक्-धुग्, धुक्षु
82	तयोर्य्वावचि संहितायाम्	8.2.108	अग्ना ३ याशा, पटा ३ वाशा
83.	ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्	8.3.32	प्रत्यङ्ङात्मा, सुगण्णीशः
84.	उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तियच्परः	8.3.87	निष्यात्, प्रादुःष्यात्
85	एकाजुत्तरपदे णः	8.4.12	पुनर्भूणाम्
86.	कृत्यचः	8.4.29	प्रयाणम्, प्रयाणीयम्
87.	अचो रहाभ्यां द्वे	8.4.46	अर्क्कः, ब्रह्म्मा
88.	अनचि च	8.4.47	दद्ध्यत्र, मद्ध्वरिः
89.	शरोऽचि	8.4.49	चतुर्षु, कर्षति

1. नाज्झलौ (1.1.10) इस सूत्र से सवर्णसंज्ञा का निषेध होता है। इसकी व्याख्या प्रत्याहारात्मक सूत्रों में हो चुकी है। अच्-प्रत्याहारघटित होने के कारण पुनः इस सूत्र का उल्लेख यहाँ किया गया है।

2. निपात एकाजनाङ् (1.114) इस सूत्र से आङ् से भिन्न एक अच्रूप निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। जिसका फल है "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" सूत्र से प्रकृतिभाव अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति, प्रायः सन्धिकार्य विकृतिरूप हैं, कुछ न कुछ वर्णविकार सन्धि में होता है। जैसे सुधी+उपास्यः=सुद्ध्युपास्यः, श्री+ईशः=श्रीशः आदि इसके उदाहरण हैं, किन्तु 'इ इन्द्रः, उ उमेशः' आदि निपात स्थल में दीर्घरूप विकृति न होकर पूर्ववत् रहा। इसमें प्रगृह्यसंज्ञा कारण है, जिससे प्रकृतिभाव की स्थिति दृढ़ रही, विकृति नहीं हुई।

3. मिदचोऽन्त्यात्परः (1.1.47) इस सूत्र में 'अचः' निर्धारण अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रत्याहार है, जिससे अच् प्रत्याहार में अन्तिम अच् वर्ण के अवयवरूप में मित् संज्ञक आगम आदि का विधान होता है। जिसका फल है 'यशांसि, पयांसि' आदि में यशस्, पयस् के अन्तिम अच् को शकार तथा यकार के अव्यवहित उत्तर में अवयवरूप नुम् आगम का विधान।

4. अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (1.1.57) इस सूत्र से स्थानिवद्भाव का अतिदेश होता है। सूत्र का अर्थ कि-पर को निमित्त मानकर अच् प्रत्याहार रूप एक अल् के स्थान में होनेवाले आदेश स्थानी के समान होते हैं, यदि उससे पूर्व के स्थान में कार्य करना हो तो,जैसा कि 'सु ध्य् य् उपास्यः, में उकाररूप अच् को निमित्त मानकर ई के स्थान में हुए यण् को स्थानिवद्भाव होने पर "अनचि च" (पा. सू. 8. 4. 47) सूत्र से धकार को द्वित्व नहीं होता, क्योंकि हल् प्रत्याहार पर में नहीं है, किन्तु द्वित्व के विषय में स्थानिवद्भाव का "न पदान्त द्विर्वचन-"(पा. सू.1.1.58) सूत्र से निषेध हो जाता है। अतः अच् से भिन्न निमित्त होने के कारण धकार को द्वित्व होता है।

5. द्विर्वचनेऽचि (1.1.59) इस सूत्र में 'अचि' यह परनिमित्तक सप्तम्यन्त प्रत्याहार पद है और पूर्व सूत्र से 'न' पद का इसमें अनुवर्तन होता है। अतः द्वित्व का निमित्त अच् प्रत्याहार यदि पर में हो तो पहले द्वित्व ही होता है, अच् के स्थान में कोई आदेश नहीं होता। जैसा कि-'एधाञ्चक्रे' प्रयोग में 'कृ' के ऋकार को यणादेश न होकर पहले द्वित्व ही होता है, इसके बाद 'एधाञ्चकृ ए' में यण् होने से 'एधाञ्चक्रे' यह रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'पा अतुस्' में "आतो लोप इटि च" (पा. सू. 6.4.64) से प्राप्त आकारलोपरूप अजादेश को रोककर पहले द्वित्व होता है। जिससे 'पपतुः' प्रयोग बनता है। द्वित्व के पहले आकार के लोप होने पर तो प् रूप हल् को द्वित्व ही नहीं होगा, क्योंकि द्वित्व यहाँ अच् को होता है। पहले आकार का लोप कर पुनः स्थानिवद्भाव करके द्वित्व करने की अपेक्षा आकारलोप के निषेध में प्रक्रिया-लाघव है तथा "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" की दृष्टि से भी उचित है। अतः अच् को मानकर यदि द्वित्व होनेवाला हो तो अजादेश को स्थानिवद्भाव हो जाता है, यह अर्थ काशिकाकार का गौरवपूर्ण तथा प्रकृत सूत्र के उपन्यासक्रम के प्रतिकूल है, क्योंकि यह सूत्र "न पदान्तद्विर्वचन-" इस निषेध सूत्र के बाद का है । यदि यह सूत्र स्थानिवद्-भाव का नियामक होता तो "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ"(पा. सू.1.1.57) सूत्र के बाद ही इसका उल्लेख होना चाहिये था, किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिए "द्विर्वचनेऽचि" सूत्र में पूर्व सूत्र से 'न' का अनुवर्तन होने के कारण सिद्धान्ततः अजादेश-निषेध में ही इस सूत्र का तात्पर्य है।

6. अचोऽन्त्यादि टि (1.1.64) सूत्र में 'अचः' यह निर्धारण अर्थ में षष्ठी है। अतः अच् वर्णों के अन्तिम अच् वर्ण हो जिसके आदि में उस समुदाय को 'टि' संज्ञा होती है। जैसा कि 'मनस्+ईषा, में अन्तिम अच् नकार के अव्यवहितोत्तर अकार है, जो अस् समुदाय के आदि में है, अतः अस् समुदाय को टि संज्ञा होती है। टिसंज्ञा का फल है-पररूप, लोप, एत्व आदि कार्य। यहाँ "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" वार्तिक से टिसंज्ञक अस् ईकाररूप में परिणत हो गया है।

7. वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् (1.1.73) इस सूत्र से-जिस शब्द में अच् समुदाय का आदि अच् यदि वृद्धिसंज्ञक हो तो उस शब्द को वृद्धसंज्ञा होती है। शाला, माला, शब्द

वृद्धसंज्ञक हैं। अतः शालायां भवः, मालायां भवः इस अर्थ में "वृद्धाच्छः" (पा. सू. 4.2.114) सूत्र से छ-प्रत्यय होता है, जिसे "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" (पा. सू. 7.1.2) सूत्र से ईय् आदेश होने पर शालीयः, मालीयः-ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र के 'वृद्धि' शब्द को छोड़कर "यस्याचामादेस्तद्वृद्धम्" इस अंश का अनुवर्तन "एङ् प्राचां देशे" (पा. सू. 1.1.75) में भी होता है। इस सूत्र का व्याख्यान अभी एङ्-प्रत्याहार-घटित सूत्रों में किया गया है।

8. ऊकालोऽज्-झ्रस्वदीर्घप्लुतः (1.2.26) इस सूत्र से उ, ऊ, उ३ के उच्चारण काल के समान उच्चारण-काल हो जिस अच् वर्ण का, उसकी क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत संज्ञा होती है। जैसा कि दधि, मधु के इकार-उकार को ह्रस्व, कुमारी, गौरी के ईकार को दीर्घ तथा देवदत्त३ इस सम्बोधन पद के अन्तिम अकार को प्लुत संज्ञा हुई है।

इस सूत्र के अच् प्रत्याहार का अनुवर्तन "अचश्च" (पा. सू. 1.2.28) "उच्चैरुदात्तः"(पा. सू. 1.2.29) "नीचैरनुदात्तः" (पा. सू. 1.2.30) एवं "समाहारः स्वरितः" (पा. सू. 1.2.31) इन चार सूत्रों में होता है।

9. अचश्च (1.2.28) इस परिभाषा सूत्र की व्याख्या तो पहले प्रत्याहारात्मक सूत्रों में हो चुकी है। पुनः इसका उल्लेख यहाँ पूर्व सूत्र के अच् पद के अनुवर्तन-प्रसङ्ग से किया गया है।

"उच्चैरुदात्तः" सूत्र से तालु आदि उच्चारण स्थान के ऊर्ध्वभाग में उच्चार्यमाण अच् उदात्तसंज्ञक होता है। जैसा कि- ये, ते, के आदि पदों में एकाररूप अच् को "आद्युदात्तश्च" (पा. सू. 3.1.3) सूत्र से प्रत्यय मानकर उदात्त हुआ है।

इसी प्रकार "नीचैरनुदात्तः" सूत्र से तालु आदि उच्चारण स्थान के अधोभाग में उच्चार्यमाण अच् अनुदात्तसंज्ञक होता है। जैसा कि 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा. सू. 3.1.4) सूत्र से 'दृषदौ, दृषदः' में सुप् को और 'पचति, पठति' में तिप् को अनुदात्त हुआ है।

"समाहारः स्वरितः" जिस अच् में उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व दोनों धर्मों का सम्बन्ध हो उसे 'स्वरित' संज्ञा होती है। जैसा कि-"क्व वोऽश्वाः" में "किमोऽत्" (पा. सू. 5.3.12) सूत्र से अत्-प्रत्यय करने पर तित् मानकर "तित्स्वरितम्" (पा. सू. 6.1.185) सूत्र से स्वरित हुआ है। जिसकी प्रतीति 'वोऽश्वाः' के ओकार रूप उदात्तस्वर परे रहते होती है। 'क्व' के अकार में आधी मात्रा उदात्त है और आधी मात्रा अनुदात्त।

10. उपदेशेऽजनुनासिक इत् (1.3.2.) इस सूत्र का अर्थ है कि-उपदेश अवस्था के अनुनासिक अच् की इत्संज्ञा होती है, जैसा कि एधते, स्पर्द्धते, में 'एध, स्पर्द्ध' धातु के धकारोत्तरवर्ती अकार अनुनासिक होने के कारण इत्संज्ञक है। अतः अनुदात्तेत् मानकर "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" (पा. सू 1.3.12) सूत्र से यहाँ आत्मनेपद हुआ है।

11. यचि भम् (1.4.18.) इस सूत्र में "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" (पा. सू. 1.4.17) सूत्र का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- सर्वनामस्थान संज्ञा से भिन्न यकारादि तथा अजादि प्रत्यय पर में हो तो पूर्व की 'भ' संज्ञा होती है। जैसा कि- "गर्गस्य गोत्रापत्यं पुमान्" इस वाक्यार्थ के लिए "गर्गादिभ्यो यञ्" (पा. सू. 4.1.105) सूत्र से यञ् प्रत्यय होता है। जिसे मानकर गर्ग शब्द को भसंज्ञा हुई और "यस्येति च"(पा. सू.6. 4. 148) सूत्र से गर्ग के अन्तिम अकार का लोप हुआ, जिससे 'गार्ग्यः' पद सिद्ध होकर उक्त वाक्यार्थ का बोध कराता है।

इसी प्रकार 'अत्रेरपत्यं पुमान्' इस अर्थ में "इतश्चानियः" (पा. सू. 4.1. 122) सूत्र से ढक् प्रत्यय होता है, जिसे "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" (पा. सू. 7.1.128) सूत्र से एय् होने पर अत्रि को भसंज्ञा होती है और "यस्येति च" सूत्र से इकार का लोप हुआ, जिससे 'आत्रेयः' पद की सिद्धि होती है। "यस्येति च" सूत्र से भसंज्ञक इकार-अकार दोनों का लोप होता है, क्योंकि 'यस्य' पद के य-वर्ण में 'इ+अ' वर्ण का सम्बन्ध है।

12. अजाद्यदन्तम् (2.2.33) इस सूत्र में "उपसर्जनं पूर्वम्" (पा. सू. 2. 2. 30) सूत्र से 'पूर्वं' तथा "द्वन्द्वे घि" (पा. सू. 2. 2. 32) से 'द्वन्द्वे' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि-द्वन्द्व समास में अजादि तथा अदन्त शब्द का पूर्व प्रयोग होता है जैसा कि- 'ईशश्च कृष्णश्च ईशकृष्णौ' इस प्रयोग में 'ईश' शब्द अजादि रूप अदन्त भी है, अतः ईशपद का पूर्वप्रयोग हुआ है।

13. अल्पाच्तरम् (2.2.34) इसमें भी पूर्व सूत्रों से 'पूर्व' तथा 'द्वन्द्व' पद का अनुवर्तन हुआ है, अतः इसका अर्थ है कि- द्वन्द्व समास में अल्प अच् वाले पद का पूर्व प्रयोग हो। इसके उदाहरण हैं- शिवकेशवौ, प्लक्षन्यग्रोधौ आदि। केशव तथा न्यग्रोध की अपेक्षा शिव और प्लक्ष में अल्प अच् हैं अतः द्वन्द्व समास में शिव और प्लक्ष-पद का पूर्व प्रयोग होता है।

14. बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु (1.4.66) इस सूत्र का अर्थ है कि- प्राच्यगोत्र तथा भरतगोत्र से सम्बद्ध दो से अधिक अच् वर्णवाले पद से यदि बहुवचन में इञ् प्रत्यय हो तो उसका लुक् होता है अर्थात् लोप होता है। जैसा कि प्राच्यग्रोत्र का उदाहरण है-"पत्रागारस्य गोत्रापत्यानि पुमांसः" इस अर्थ में "अत इञ्" (4.1. 95) से इञ्-प्रत्यय हुआ और उसका लोप हो गया। अतः बहुवचन में 'पत्रागाराः' और एकवचन में 'पत्रागारिः' प्रयोग होता है।

इसी प्रकार भरतगोत्र के युधिष्ठिर शब्द से बहुत्वबोधक अपत्य प्रत्यय का लोप होने पर 'युधिष्ठिराः' तथा एकवचन में 'यौधिष्ठिरिः' पद प्रयुक्त होते हैं। इस सूत्र में अच् प्रत्याहार पञ्चमी विभक्ति के एकवचन का पद है।

15. धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (3.1.22) इससे एक अच् वाले हलादि धातु से बार-बार तथा अधिक अर्थ में यङ् प्रत्यय होता है, जैसा कि-पुनः पुनरतिशयेन

वा भवति' इस अर्थ में एक अच् वाला हलादि 'भू' धातु से यङ् प्रत्यय होने पर "सन्यङोः" (पा. सू. 6.1.9.) सूत्र से द्वित्व के बाद अभ्यास कार्य होकर 'बोभूयते' पद निष्पन्न हुआ।

16. अचः कर्मकर्त्तरि (3.1.62) इस सूत्र से च्लि-प्रत्यय को चिण् आदेश होता है। 'अचः' यह प्रत्याहार पद पञ्चमी विभक्ति के एकवचन का रूप है। इसमें "चिण् ते पदः" सूत्र से 'चिण् ते' इस अंश का तथा "दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्" (पा. सू. 3.1.61) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ कि- कर्म जहाँ कर्त्ता हो जाय, वहाँ त-प्रत्यय पर में हो तो अजन्त धातु से विहित च्लि प्रत्यय को विकल्प से चिण् आदेश होता है। जैसा कि 'अकारि कटः स्वयमेव, वाक्य में कट कर्म कर्त्ता हो गया है, अतः च्लि को चिण् आदेश हुआ है और "चिणो लुक्" (पा. सू. 6.4.104) सूत्र से त- शब्द का लोप होने पर 'अकारि' तथा चिण् के अभाव में 'अकृत' ये दोनों रूप निष्पन्न होते हैं।

17. अचो यत् (3.1.97) इस सूत्र का अर्थ है कि अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है। जैसा कि-'चेतुं,जेतुं, पातुं योग्यम्' इस अर्थ में चि, जि और पा धातु से यत् प्रत्यय होने पर 'चेयम्, जेयम्, पेयम्' आदि पद सिद्ध होते हैं। इसमें भी अच् प्रत्याहार पञ्चमी विभक्ति के एकवचन का रूप है, जो धातु का विशेषण है। अतः अजन्त धातु से यत् प्रत्यय का विधान होता है।

18. न क्रोडादिबह्वचः (4.1.56) सूत्र में 'अचः' यह प्रत्याहार पद पञ्चमी का है। जिससे सूत्र का अर्थ होता है कि-क्रोड, खुर, बाल आदि शब्द हो जिसके अन्त में उनसे तथा अनेक अच्वाले प्रातिपदिकों से स्त्रीत्वद्योतक ङीष् प्रत्यय नहीं होता है। जैसा कि-कल्याणक्रोडा, कल्याणखुरा, कल्याणबाला, पृथुजघना, महाललाटा आदि शब्दों में "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्" (पा. सू. 4.1.54) सूत्र से ङीष् प्राप्त था, उसका निषेध इस सूत्र से हुआ है।

उपर्युक्त "अचश्च" से लेकर "न क्रोडादिबह्वचः" इन दस सूत्रों के अच् प्रत्याहार पद का अनुवर्तन किसी अन्य सूत्र में नहीं होता।

19. गोत्रेऽलुगचि (4.1.89) "यञञोश्च" (पा. सू. 2.4.64) सूत्र से प्राप्त यञ् प्रत्यय के लुक् का निषेध इस सूत्र से होता है। अतः 'गर्गाणां छात्राः' इस अर्थ में गार्ग्य शब्द से छ-प्रत्यय और उस छ को "आयनेयी-" सूत्र से ईय आदेश होने पर "गार्ग्य ईय' इस अवस्था में "आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" (पा. सू.6. 4. 151) सूत्र से यकार का लोप होकर 'गार्गीयाः छात्राः' का व्यवहार होता है।

इस सूत्र के अच् का सम्बन्ध "यूनि लुक्" (पा. सू. 4.1.90) तथा "फक्फिञोरन्यतरस्याम्" (पा. सू. 4.1.91) सूत्र में भी है।

20. द्व्यचः (4.1.121) इस सूत्र में "स्त्रीभ्यो ढक्" सूत्र का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है-कि दो अच्वाले स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय हो, जैसा कि-'दत्ताया अपत्यम्, गोपाया अपत्यम्' इस अर्थ में ढक् प्रत्यय हुआ है, जिसे "आयनेयी-" सूत्र से एय् आदेश होने पर 'दात्तेयः, गौपेयः' आदि पद बनते हैं।

अच् प्रत्याहारघटित इस सूत्र का सम्बन्ध "इतश्चानिञः" (पा. सू. 4.1.122) सूत्र से भी है। अतः इस सूत्र का अर्थ है कि इञ् प्रत्ययान्तभिन्न दो अच् वाले इकारान्त प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय हो। जैसा कि 'अत्रेरपत्यम्' इस अर्थ में अत्रि शब्द से ढक् प्रत्यय होने पर 'आत्रेयः, नैधेयः' आदि पद सिद्ध होते हैं।

21. अणो द्व्यचः (4.1.156) इस सूत्र में "तिकादिभ्यः फिञ्" सूत्र से फिञ् का अनुवर्तन होता है और 'अचः' यह पञ्चम्यन्त प्रत्याहार पद प्रातिपदिक का विशेषण है। अतः सूत्र का अर्थ है कि अण् प्रत्यय हो अन्त में जिसके ऐसे दो अच्वाले प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में फिञ् प्रत्यय होता है। जैसा कि पहले 'कर्त्तुरपत्यम्' इस अर्थ में "अत इञ्" (पा. सू. 4.1.95) सूत्र से प्राप्त इञ् प्रत्यय को बाधकर "अणो द्व्यचः" से फिञ् प्रत्यय हुआ, जिसे आयन् आदेश होने पर 'कार्त्रायणिः' पद निष्पन्न होता है।

22. मतोश्च बह्वजङ्गात् (4.2.72) इस सूत्र में "ओरञ्" (पा. सू. 4.2.71) सूत्र से अञ् का अनुवर्तन होता है। जिससे सूत्र का अर्थ है कि-बहुत से अच् वाले अङ्ग संज्ञक मतुबन्त प्रातिपदिक से चार[1] अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है। जैसा कि-'इषुकावतां निवासः' इस अर्थ में इस सूत्र से अञ् प्रत्यय होने पर "तद्धितेष्वचामादेः" (पा. सू. 7.2.117) सूत्र से आदि-वृद्धि होकर 'ऐषुकावतं नगरम्' की सिद्धि होती है।

23. बह्वचः कूपेषु (4.2.73) इससे तथा अगले सूत्र से भी अञ् प्रत्यय होता है। सूत्र का अर्थ है कि-अनेक अच् वाले प्रातिपदिक से कूप अर्थ की प्रतीति होने पर अञ् प्रत्यय हो। अतः 'दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तः कूपः' इस अर्थ में 'दैर्घवरत्रः[2], कापिलवरत्रः' आदि पद निष्पन्न होते हैं।

24. उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात् (4.2.109) इस सूत्र का अर्थ है कि उत्तर दिशा के ग्रामवाचक अनेक अच्वाले प्रातिपदिक से अञ् प्रत्यय हो। जिससे 'शिवपुरे भवं शैवपुरम्, मण्डवपुरे भवं माण्डवपुरम्' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

25. न द्व्यचः प्राच्यभरतेषु (4.2.113) यह सूत्र "इञश्च" (पा. सू. 4.2.1921)

1. (क) तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि (पा. सू. 4.2.66), (ख) तेन निर्वृत्तम् (4.2.68), (ग) तस्य निवासः (4.2.69), (घ) अदूरभवश्च (4.2.70)।
2. दीर्घवरत्र द्वारा निर्मित कूप।

सूत्र से प्राप्त अण् प्रत्यय का निषेध करता है। अतः 'प्रौष्ठेः छात्राः' इस अर्थ में प्रौष्ठि शब्द से अण् प्रत्यय न होकर छ-प्रत्यय होने पर 'प्रौष्ठीयाः' पद का व्यवहार होता है।

26. बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ् (4.3.67) इस सूत्र से अनेक अच्वाले अन्तोदात्त प्रातिपदिक से व्याख्यान एवं भव अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। जैसा कि 'षत्वणत्वयो र्विधायकं शास्त्रं षत्वणत्वम्, तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा' अर्थ में षत्वणत्व शब्द से ठञ् प्रत्यय हुआ, जिसे "ठस्येकः" (पा.सू. 7.3.50) सूत्र से इक आदेश होने पर आदि वृद्धि होकर 'षात्वणत्विकः' यह पद सिद्ध होता है।

27. द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक् (4.3.72) इस सूत्र से भी दो अच् वाले तथा ऋकारान्त आदि शब्द से व्याख्यान और भव अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। जैसा कि-दो अच्वाले इष्ट और पशु शब्द से 'इष्टस्य व्याख्यानः, पशो र्व्याख्यानः' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होकर 'ऐष्टिकः, पाशुकः' आदि पद बनते है।

28. द्व्यचश्छन्दसि (4.3.150) वेद में दो अच्वाले प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है। "यस्य पर्णमयी जुहू र्भवति, दर्भमयं वासो भवति, शरमयं बर्हिर्भवति" आदि वाक्यों में पर्ण, दर्भ तथा शर शब्द से मयट् प्रत्यय हुआ है।

29. नौद्व्यचष्ठन् (4.4.7) नौ तथा दो अच् वाले प्रातिपदिक से "तरति" (पा. सू. 4.4.5) अर्थ में ठन् प्रत्यय होता है। अतः 'नावा तरति, घटेन तरति, बाहुभ्यां तरति' अर्थ में नौ, घट, बाहु-शब्द से ठन् प्रत्यय हुआ। जिसे इक ओदश होने पर 'नाविकः, घटिकः, बाहुकः' आदि पद की सिद्धि होती है।

30. बह्वच्पूर्वपदाट्ठच् (4.4.64) इस सूत्र में "कर्माध्ययने वृत्तम्" (4.4.63) इस सूत्र का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ कि- अनेक अच्वाले शब्द के पूर्व पद में रहने पर 'अध्ययने कर्मवृत्तम्' अर्थ में ठच् प्रत्यय होता है। जैसा कि 'द्वादशान्यानि कर्माण्यध्ययने वृत्तान्यस्य' इस अर्थ में द्वादशान्य शब्द से ठच् प्रत्यय तथा पूर्ववत् ठ को इक आदेश होने पर 'द्वादशान्यिकः' प्रयोग बनता है।

31. गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमाणाश्वादेर्यत् (5.1.39) गो शब्द तथा दो अच्वाले प्रातिपदिक से यत् प्रत्यय होता है, उसका निमित्त संयोग और उत्पात अर्थ हो तब। क्योंकि "तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ" (पा. सू. 5.1.38) इस पूर्व सूत्र का इस सूत्र में सम्बन्ध है। अतः "गोर्निमित्तं, धनस्य निमित्तं, स्वर्गस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा" इस अर्थ में गोशब्द से यत् प्रत्यय होने पर 'गव्यः' एवं दो अच्वाले धन, स्वर्ग शब्द से यत् प्रत्यय होने पर 'धन्यम्, स्वर्ग्यम्' आदि पद निष्पन्न होते हैं।

पूर्वोक्त "अणो द्व्यचः" से लेकर "गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमाणाश्वादेर्यत्" इन

ग्यारह सूत्रों में अच् प्रत्याहार पद पञ्चमी विभक्ति का है। बात यह है कि प्रायः प्रत्यय प्रकृति के अव्यवहित उत्तर में होते हैं। अतः जिससे प्रत्यय होगा, उसमें पञ्चमी विभक्ति नियमतः होती है। प्रकृति-कोटि में धातु, प्रातिपदिक और सुबन्त पद आते हैं। जैसा कि- धातु से तिङ् और कृत् प्रत्यय, प्रातिपदिक से सुप् तथा सुबन्त से तद्धित प्रत्यय का सम्बन्ध है। पूर्वोक्त अच् प्रत्याहार घटित ग्यारह सूत्र तद्धित प्रत्यय के विधायक हैं, अतः इनके उद्देश्य अच् प्रत्याहार पद भी पञ्चमी विभक्ति के हैं।

इन सूत्रों के अच् प्रत्याहार पद का अन्य सूत्रों में अनुवर्तन नहीं होता।

32. अजादी गुणवचनादेव (5.3.58) यह नियामक सूत्र है, अतः अच् प्रत्याहार हो आदि में जिसके ऐसे इष्ठन् और ईयसुन्-प्रत्यय गुणवाचक शब्द से ही होते हैं, अन्य से नहीं। जैसा कि-"अयमेषामतिशयेन पटुः पटिष्ठः, अयमनयोरतिशयेन पटुः पटीयान्" इस अर्थ में गुणवाचक पटु शब्द से इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय हुआ है, पूर्वोक्त पाचक शब्द से नहीं। क्योंकि पाचक क्रियापद है, अतः अतिशय अर्थ में तरप् और तमप् प्रत्यय होकर 'पाचकतरः, पाचकतमः' पद ही बनते हैं।

इस सूत्र के 'अजादी' इस द्विवचनान्त पद का सम्बन्ध क्रमशः "तुश्छन्दसि" (पा. सू. 5.3.59) "प्रशस्यस्य श्रः" (पा. सू. 5. 3.60) "ज्य च" (पा. सू. 5.3.61) "वृद्धस्य च" (पा. सू. 5.3.62) "अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ" (पा. सू. 5.3.63) "युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्" (पा. सू. 5.3.64) "विन्मतोर्लुक्" (पा. सू. 5.3.65) इन सात सूत्रों में भी है। इनका अर्थ और उदाहरण प्रकृत में अनुपयोगी होने के कारण प्रस्तुत नहीं किया गया।

33. बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा (5.3.78) इस सूत्र में "अनुकम्पायाम्" (पा. सू. 5.3.76) तथा "नीतौ च तद्युक्तात्" (पा. सू. 5.3.77) सूत्र का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- अनुकम्पा एवं नीति अर्थ में अनेक अच्वाले मनुष्यवाचक प्रातिपदिक से ठच् प्रत्यय विकल्प से हो। जैसा कि-"अनुकम्पितो देवदत्तः" इस अर्थ में देवदत्त शब्द से ठच् प्रत्यय होने पर "ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः" (पा. सू. 5.3.83) इस सूत्र से ठच् एवं अजादि प्रत्यय के परे प्रकृति के द्वितीय अच् से उत्तर अंश का लोप हो जाता है। अतः 'दत्त' का लोप एवम् ठ को इक आदेश होकर 'देविकः' पद बनता है। ठच् के अभाव में कन् प्रत्यय होने पर 'देवदत्तकः' तथा "घनिलचौ च" सूत्र से घन् और इलच् प्रत्यय होकर 'देवियः, देविलः' ये पद भी 'अनुकम्पितो देवदत्तः' इस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

"बह्वचो मनुष्य-" (पा. सू. 5.3.78) सूत्र के 'बह्वचः' पद का सम्बन्ध "घनिलचौ च" (पा. सू. 5.3.79) तथा "प्राचामुपादेरडज्बुचौ च" (पा. सू. 5.3.80) इन दो सूत्रों में भी है।

34. ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः (5.3.83) इस सूत्र की व्याख्या पूर्व सूत्र में हो गई है। इसमें अच् प्रत्याहार दो बार प्रयुक्त हुआ है। एक सप्तमी विभक्ति का है, दूसरा पञ्चमी

विभक्ति का एक पर-निमित्त है, दूसरा पूर्व-निमित्त।

इस दो अच्‌वाले-प्रत्याहार घटित सूत्र का सम्बन्ध आगे के "शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात्" (पा. सू. 5.3.84) सूत्र में भी है। केवल 'द्वितीयात्' की जगह यहाँ 'तृतीयात्' पद है। अतः शेवल, सुपरि, विशाल आदि दत्तान्त शब्द के तृतीय अच् से उत्तर अंश का लोप होता है ठ तथा अजादि प्रत्यय परे में हो तो। जैसा कि- अनुकम्पितः शेवलदत्तः शेवलिकः, शेवलियः-शेवलिलः, ये पद बनते हैं। इसी प्रकार 'सुपरिकः, विशालिकः' आदि पदों में भी दत्त शब्द का लोप हुआ है।

35. एकाचो द्वे प्रथमस्य (6.1.1) यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार "ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे" (पा. सू. 6.1.13) सूत्र से पहले तक है। द्वित्वविधायक "लिटि धातोरनभ्यासस्य" (पा. सू. 6.1.8) "सन्यङोः" (पा. सू. 6.1.9) आदि सूत्रों से होनेवाला द्वित्व अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् को होता है। जैसा कि- 'बभूव, पपाच' आदि पदों में प्रथम एकाच् वाले भूव् और पच् को द्वित्व हुआ है और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है। जिसके लिए सूत्र है- "अजादेर्द्वितीयस्य"। जैसा कि- 'ऊर्णुनाव' में नु को द्वित्व हुआ है।

36. अजादेर्द्वितीयस्य (6.1.2) सूत्र में 'द्वितीयस्य' पद के कारण पूर्वोक्त 'प्रथमस्य' पद का सम्बन्ध नहीं है। अतः इस सूत्र का अर्थ कि अजादि धातु के द्वितीय एक अच्‌वाले धातु के अवयव को द्वित्व हो। इसमें प्रथमान्त अच् और षष्ठ्यन्त अचः- इन दो रूपों में अच् प्रत्याहार का योग है।

उपर्युक्त दोनों सूत्रों के अच् प्रत्याहार का सम्बन्ध "न न्द्राः संयोगादयः" (पा. सू. 6.1.3) सूत्र से है इस सूत्र से उस अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व नहीं होता, जिसके आदि में न, द और र संयुक्त हो। जैसा कि- उन्दी, अर्च धातुओं से सन् प्रत्यय करने के पर "सन्यङोः" सूत्र से अजादि धातु के संयुक्त द्वितीय एकाच् न्दि, ड्डि, र्चि- को द्वित्व न होकर दि, टि, चि-को ही द्वित्व हुआ। अतः "उन्दिदिषति, अड्डिटिषति, अर्चिचिषति" आदि पद निष्पन्न होते हैं।

37. इको यणचि (1.1.77) इस सूत्र की व्याख्या प्रत्याहारात्मक सूत्रों में हो गयी है। इस सूत्र के 'अचि' इस सप्तम्यन्त प्रत्याहार पद का सम्बन्ध "एचोऽयवायावः (पा. सू. 6.1.78) आद्गुणः (पा. सू. 6.1.87) आटश्च (पा. सू. 6.1.90) अकः सवर्णे दीर्घः (पा. सू. 6.1.101) सम्प्रसारणाच्च (पा. सू. 6.1.108) अवङ् स्फोटायनस्य (पा. सू. 6.1.123) तथा इन्द्रे च (पा. सू. 6.1.124)" सूत्र में भी है। इनसे क्रमशः विधीयमान अयाद्यादेश, गुण, वृद्धि, सवर्णदीर्घ, पूर्वरूप एवम् अवङादेश अच्प्रत्याहार को निमित्त मानकर ही होते हैं।

38. प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (6.1.125) इस सूत्र में "प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे"

(पा. सू. 6.1.115) सूत्र से 'प्रकृत्या' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि-अच् के परे रहते प्लुत तथा प्रगृह्यसंज्ञक शब्द अपने रूप में स्थित रहते हैं, उनमें विकृति नहीं होती। प्रायः वर्णों की सन्धि में विकृति ही होती है, किन्तु कुछ नियत स्थानों में प्लुत और प्रगृह्यसंज्ञक पद प्रकृतिरूप में स्थित रहते हैं। जैसा कि- 'एहि कृष्ण३ अत्र गौश्चरति, हरी एतौ' में दीर्घ और यण्-रूप में विकृति नहीं हुई।

इस अच् का सम्बन्ध "आङो ऽनुनासिकश्छन्दसि" (पा. सू. 6.1.126) "इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च" (पा. सू. 6.1.127) तथा "ई चाक्रवर्मणस्य" (पा. सू. 6.1.130) सूत्र में भी है। अतः इनसे होनेवाले अनुनासिक, ह्रस्व तथा अप्लुतवद्भाव कार्य अच् प्रत्याहार को निमित्त मानकर होते हैं।

39. सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम् (6.1.134) इस सूत्र से तत् शब्द के सु विभक्ति का लोप होता है, लोप होने पर यदि पाद की पूर्ति होती हो तब। जैसा कि- "स सु इमामविढ्ढि-सेमामविढ्ढि प्रभृतिं य ईशिषे" तथा "स सु एष- सैष दाशरथी रामः" आदि वैदिक-लौकिक पादों की पूर्ति सु के लोप होने पर ही होती है।

40. सावेकाचस्तृतीयादिविभक्तिः (6.1.168) इस सूत्र में "कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः" (पा. सू. 6.1.159) सूत्र से उदात्त पद का अनुवर्तन होता है, वही विधेय है। अतः सूत्र का अर्थ है कि सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में जो पद एक अच् के रूप में श्रूयमाण हो तो उस पद से परे तृतीया, चतुर्थी आदि विभक्ति को उदात्त होता है। अतः 'वाचा, वाग्भ्याम्' आदि विभक्तियों को उदात्त होता है, राज्ञा, राज्ञे आदि के विभक्तियों को नहीं, क्योंकि 'राजसु' के राज में दो अच् है। यहाँ 'अचः' पद पञ्चमी विभक्ति का है।

इस सूत्र के एकाच् पद का सम्बन्ध "अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे" (पा. सू. 6.1.169) सूत्र में भी है।

41. शतुरनुमो नद्यजादी (6.1.173) इस सूत्र से नुमागमरहित शतृप्रत्ययान्त शब्दों से विहित नदीसंज्ञक प्रत्यय को तथा सर्वनामस्थान से भिन्न अजादि विभक्तियों को उदात्त होता है। जैसा कि-'तुदती, नुदती तथा तुदता, नुदता' आदि पदों में उदात्त हुआ है। इस अच् प्रत्याहार का सम्बन्ध अगले "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" (पा. सू.6.1.174) तथा "नोङ्धात्वोः"(पा. सू. 6.1.175) इन दो सूत्रों में भी है। इनमें पहले सूत्र से उदात्त का विधान तथा दूसरे सूत्र से उदात्त का निषेध होता है। दोनों के लिए अजादि और असर्वनामस्थान विभक्ति अपेक्षित है।

42. स्वपादिहिंसामच्यनिटि (6.1.188) इसमें "आदिःसिचो ऽन्यतरस्याम्" (पा. सू. 6.1.187) सूत्र से 'आदिः' और 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति होती है।

अतः सूत्र का अर्थ है कि- स्वप, श्वस आदि धातु को इट्-भिन्न अजादि सार्वधातुक पर में हो तो विकल्प से आदि उदात्त होता है। स्वपन्ति, श्वसन्ति आदि तथा 'हिंसन्ति' इसके उदाहरण हैं। सामान्यतः "धातोः" (पा. सू. 6.1.162) सूत्र से प्राप्त अन्तोदात्त का यह अपवादक है।

43. अचः कर्तृयकि (6.1.195) इस सूत्र में "आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम्" (पा. सू. 6.1.193) सूत्र से 'आदिः' और 'अन्यतरस्याम्' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- यदि कर्ता का अर्थ बतानेवाला यक् प्रत्यय पर में हो तो उपदेशावस्था के अजन्त धातु का आदि उदात्त होता है विकल्प से। जैसा कि 'लूयते केदारः स्वयमेव' में यक् प्रत्यय कर्त्रर्थक है, अतः धातु का आदि उदात्त हुआ है। सूत्र में 'अचः' पद षष्ठी विभक्ति का है। जिसका अनुवर्तन अन्य सूत्रों में नहीं होता।

44. निष्ठा च द्व्यजनात् (6.1.205) इसमें "संज्ञायामुपमानम्" (पा. सू. 6.1.204) सूत्र से 'संज्ञायाम्' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि-संज्ञा विषय में निष्ठा (क्त-क्तवतु) संज्ञक प्रत्यय हो अन्त में जिसके ऐसे दो अच्वाले शब्द का आदि स्वर उदात्त होता है, यदि वह आदि अच् अकार से भिन्न हो तो। जैसा कि दा, गुप् एवं बुध् धातु से क्त प्रत्यय होने पर दत्तः, गुप्तः, बुद्धः' आदि दो अच् वाले शब्दों में आदि उदात्त हुआ है।

इस 'द्व्यच्' का मण्डूकप्लुति रीति से सम्बन्ध "यतोऽनावः" (पा. सू. 6.1.213) सूत्र में भी है। इससे पदों में आदि उदात्त होता है, केवल 'नाव्यम्' को छोड़कर।

45. अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः(6.2.83) इसमें "दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटं जे" (6.2.82) सूत्र से 'जे' पद का अनुवर्तन है। जिससे सूत्र का अर्थ होता है कि- जन् धातु के जवर्ण उत्तर में हो तो अनेक अच्वाले पूर्वपद का उपान्त्य अच् उदात्त होता है । इसके उदाहरण में 'उपसरजः, मन्दुरजः' आदि पद प्रस्तुत किये जाते हैं।

46. अर्मे चावर्णं द्व्यच्त्र्यच् (6.2.90) अर्म शब्द उत्तरपद में हो तो दो अच्वाले एवं तीन अच्वाले पूर्वपद का आदि स्वर उदात्त होता है। 'दत्तार्मम्[1]' द्व्यच् का तथा 'कुक्कुटार्मम्' त्र्यच् का उदाहरण है।

47. आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (6.2.119) इसमें "सोर्मनसी अलोमोषसी" (पा. सू. 6.2.117) इस सूत्र से 'सोः' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सुपदपूर्वक बहुव्रीहि समास में यदि उत्तरपद दो अच्वाला तथा आद्युदात्त हो तो, वह आद्युदात्त ही बना रहता है, "नञ्सुभ्याम्" (6.2.172) सूत्र से अन्तोदात्त नहीं होता । जैसा कि 'स्वश्वास्त्वा सुरथामर्ज्जयेम' इस वेदवाक्य में आद्युदात्त ही बना रहा।

---

1. एक नगर का नाम।

48. शितेर्नित्याबह्वज् बहुव्रीहावभसत् (6.2.138) इसका अर्थ है कि- शितिपद-पूर्वक बहुव्रीहि समास में सर्वदा अनेक अच् से भिन्न उत्तरपद का प्रकृतिस्वर होता है, किन्तु भसत् शब्द को छोड़कर। जैसा कि-'शितिपादः[1]' में पादशब्द को वृषादि[2] मानकर जो आद्युदात्त हुआ वही इस बहुव्रीहि समास में विद्यमान रहा।

49. उपाद् द्व्यजजिनमगौरादयः (6.2.194) उप उपसर्ग के बाद दो अच्वाले तथा अजिन पद तत्पुरुष समास में अन्तोदात्त होता है, गौरादि शब्द को छोड़कर। जैसा कि-'उपगतो देवमपदेवः, उपगत इन्द्रम् उपेन्द्रः' आदि में तथा 'उपगत अजिनम् उपाजिनम्' में अन्तोदात्त हुआ।

पूर्वोक्त "सावेकाचस्तृतीयादिविभक्तिः" (पा. सू. 6.1.168) से "उपाद् द्व्यजजि-नमगौरादयः" इस सूत्र तक के दस सूत्रों से उदात्त, आद्युदात्त आदि स्वरविधि होती है।

50. घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः (6.3.43) इससे घसंज्ञक (तरप्-तमप्), रूपप्, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत तथा हत शब्दों के परे अनेक अच्वाले पुलिङ्गपद को स्त्रीलिङ्ग ङीप्प्रत्ययान्त होने पर ह्रस्व होता है। जैसा कि-ब्राह्मणितरा ब्राह्मणितमा, ब्राह्मणिरूपा आदि पद का पुलिङ्ग ब्राह्मण पद ही स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होकर ब्राह्मणी बना है, जिसे यहाँ ह्रस्व हुआ।

51. अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (6.3.67) इस सूत्र में "खित्यनव्ययस्य" (पा. सू. 6.3.66) सूत्र से 'खिति' पद का अनुवर्तन होने से सूत्र का अर्थ होता है कि- खिदन्त उत्तर पद में हो तो अरुस्, द्विषत् तथा अजन्त शब्दों को मुम् का आगम होता है। जैसा कि- 'अरुन्तुदः, द्विषन्तपः' तथा 'कालिंमन्या' आदि पदों में मुम् का आगम हुआ है।

52. इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च (6.3.68) इस सूत्र में भी खिदन्त उत्तरपद अपेक्षित है। अतः सूत्र का अर्थ है कि पूर्वोक्त निमित्त रहने पर इजन्त एकाच् शब्द को अम् का आगम हो और वह द्वितीया के एकवचन अम् विभक्ति के समान हो। जिससे 'गां मन्यते, स्त्रियं मन्यते' इस विग्रह में 'गांमन्यः, स्त्रींमन्यः-स्त्रियंमन्यः' आदि पदों की सिद्धि में "औतोऽम्शसोः"(पा. सू. 6.1.93) "वाऽम्शसोः"(पा. सू. 6.4.80) सूत्रों की क्रमशः प्रवृत्ति होती है। अम्, शस् पर में हो तो पहले सूत्र से ओकार को आकार तथा दूसरे सूत्र से वैकल्पिक इयङ् आदेश होता है।

53. तस्मान्नुडचि (6.3.74) नञ् समास का उत्तरपद यदि अजादि हो और नञ् के नकार का लोप हुआ हो तो, उसके उत्तर में नुट् आगम होता है। जैसा कि-'न अश्वः

---

1. सफेद या नीले पैरवाला।
2. वृषादीनां च (पा. सू. 6.1.203)

अनश्वः' में "नञ्" (पा. सू. 2.2.6) सूत्र से समास होने पर "नलोपो नञः" (पा. सू. 6.3.73) सूत्र से नकार का लोप हुआ इसके बाद इस सूत्र से नुट्। इस नुट् आगम के लिए उत्तर पद के आदि में अच् प्रत्याहार अपेक्षित होने के कारण 'न ब्राह्मणः अब्राह्मणः' आदि नञ् समास में नुडागम नहीं होता है।

54. कोः कत्तत्पुरुषेऽचि (6.3.101) सूत्र का अर्थ है कि- तत्पुरुष समास का उत्तरपद अजादि होने पर 'कु' शब्द को 'कत्' आदेश हो जाता है। 'कुत्सितः अश्वः- कदश्वः, कुत्सितम् अन्नम्-कदन्नम्' आदि समासपद इसके उदाहरण हैं।

55. मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् (6.3.119) इसमें "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (पा. सू. 6.3.111) सूत्र से दीर्घ पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- मतुप् प्रत्यय के परे अजिर आदि शब्द से भिन्न अनेक अच्वाले शब्दों को दीर्घ होता है संज्ञा अर्थ में। जैसा कि-'उदुम्बरावती, मशकावती' आदि नदीवाचक संज्ञापदों में दीर्घ हुआ है। उदुम्बर और मशक शब्द से "नद्या मतुप्" (पा. सू. 4.2.85) सूत्र के द्वारा मतुप् प्रत्यय तथा "संज्ञायाम्" (पा. सू. 8.2.11) सूत्र से मकार को वकार हुआ है।

56. द्व्यचोऽतस्तिङः (6.3.135) इसमें "ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्" (पा. सू. 6.3.133) सूत्र से 'ऋचि' पद का अनुवर्तन होता है और 'दीर्घ' का अनुवर्तन "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" सूत्र से पहले से ही आ रहा है। अतः इस सूत्र से दो अच् वाले तिङन्त पद के अकार को दीर्घ होता है, मन्त्र में। "विद्मा हि त्वा सत्पतिं शूर गोनाम्" इस मन्त्रात्मक वाक्य के तिङन्त पद 'विद्मः' को दीर्घ होकर 'विद्मा' बन गया।

57. अज्झनगमां सनि (6.4.16) इस सूत्र में "अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति" (पा. सू. 6.4.15) सूत्र से झल् पद का अनुवर्तन हुआ है। अतः सूत्रार्थ है कि- झलादि सन्-प्रत्यय के परे अजन्त तथा हन् एवं गम् धातु को दीर्घ होता है। क्रमशः चिकीर्षति, जिघांसति अधिजिघांसते इसके उदाहरण हैं।

58. स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु भावकर्म्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च (6.4.62) इस सूत्र से भाव तथा कर्म अर्थ की प्रतीति में स्य, सिच्, सीयुट् एवं तास् के परे उपदेश में जो अजन्त धातु तथा हन,ग्रह, और दृश् धातु को विकल्प से चिण् के समान अङ्गकार्य तथा स्य, सिच् आदि को इट् का आगम होता है। जैसा कि-भाविता-भविता, घानिष्यते-हनिष्यते, ग्राहिष्यते-ग्रहीष्यते दर्शिष्यते-द्रक्ष्यते आदि पदों में चिण्वद्भाव के कारण वृद्धि, घत्व तथा इट् का आगम हुआ है।

59. दीङो युडचि क्ङिति (6.4.63) इस सूत्र से अजादि कित्, ङित् प्रत्यय के परे

रहते दीङ् धातु को युट् का आगम होता है। जैसा कि- दीङ् धातु से लिट् लकार आत्मनेपद त-प्रत्यय के परे द्वित्वादि कार्य तथा "लिटस्तझयोरेशिरेच्" (पा. सू. 3.4.81) सूत्र से 'त' को एश् आदेश करने पर अजादि प्रत्यय के परे युट् का आगम होकर 'दिदीये' पद बनता है।

60. आडजादीनाम् (6.4.72) इसमें "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः" (पा. सू. 6.4.71) सूत्र से 'अट्' को छोड़कर पूरे सूत्र का अनुवर्तन होता है। अतः इससे अजादि धातुओं को लुङ्, लङ् एवं लृङ् लकार में आट् का आगम होता है। जैसा कि-अजादि एध धातु के लुङ्, लङ् लृङ् में क्रमशः-ऐधिष्ट, ऐधत, ऐधिष्यत पद सिद्ध होते हैं।

पूर्वोक्त "अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः" सूत्र से "आडजादीनाम्" तक के सोलह सूत्रों में प्रयुक्त 'अच्' पद का किसी अन्य सूत्र में अनुवर्तन नहीं होता, अतः ये एकदेशस्थ अच् प्रत्याहार हैं।

61. अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (6.4.77) अच् पर में हो तो श्नुप्रत्ययान्त, इवर्णान्त, उवर्णान्त धातुओं को तथा भ्रू शब्द को इयङ् और उवङ् आदेश होता है। आप्नुवन्ति, नियौ, लुवौ, भुवौ आदि पद इसके उदाहरण हैं।

'अचि' इस सप्तम्यन्त निमित्तपद का सम्बन्ध आगे के निम्नलिखित नौ सूत्रों में भी है, जिनका सोदाहरण विवरण इस प्रकार है-

सूत्र		कार्य	उदाहरण
1. अभ्यासस्यासवर्णे	6.4.78	इयङ्-उवङ्	इयेष, उवोष
2. स्त्रियाः	6.4.79	इयङ्	स्त्रियौ, स्त्रियः
3. इणो यण्	6.4.81	यण्	यन्ति, आयन्
4. एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य	6.4.82	"	निन्यतुः, कुमार्यौ
5. ओः सुपि	6.4.83	"	खलप्वौ, खलप्वः
6. वर्षाभ्वश्च	6.4.84	"	वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः
7. हुश्नुवोः सार्वधातुके	6.4.87	"	जुह्वति, सुन्वन्ति
8. भुवो वुग् लुङ्लिटोः	6.4.88	वुक्	बभूव, अभूवन्
9. उदुपधाया गोहः	6.4.89	ऊकारादेश	निगूहति

62. एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (6.4.82) इसमें 'अचः' यह उद्देश्य बोधक षष्ठ्यन्त प्रत्याहार पद है और 'अचि' पूर्वोक्त सूत्र से अनुवर्तित है। अतः सूत्र का अर्थ है कि धात्ववयवभूत संयोग जिस इवर्ण के पूर्व न हो तदन्त अनेकाच् अङ्गसंज्ञक को अच् के परे यण् आदेश होता है।

इस सूत्र के 'अचः' पद का सम्बन्ध "ओः सुपि" तथा "हुश्नुवोः सार्वधातुके" इन दो अगले सूत्रों में भी है।

63. प्रकृत्यैकाच् (6.4.163) इसमें "तुरिष्ठेमेयस्सु" (पा. सू. 6.4.154) सूत्र से 'इष्ठेमेयस्सु' पद का अनुवर्तन होता है। अतः इष्ठन्, ईयसुन्, इमनिच्-प्रत्यय परे में हो तो एक अच्वाले भसंज्ञक शब्द को प्रकृति-भाव हो जाता है। अतः 'अतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः, स्रजीयान्' में इष्ठन्, ईयसुन के परे "टेः" (पा. सू. 6.4.155) सूत्र से भसंज्ञक 'टि' लोप होकर विकृति नहीं हुई, स्रज् अपने रूप में ही स्थित रहा, यही प्रकृतिभाव का फल है।

64. रधिजभोरचि (7.1.61) इसमें "इदितो नुम् धातोः" (पा. सू. 7.1.58) सूत्र से नुम् पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि 'रध' तथा 'जभ' धातु को नुम् का आगम हो अजादि प्रत्यय के परे। जिससे 'रन्धयति, रन्धकः,जम्भयति, जम्भकः, ये पद निष्पन्न होते हैं।

नुम् विधायक "रभेरशब्लिटोः" (पा. सू. 7.1.63) तथा "लभेश्च" (पा. सू. 7.1.64) इन दो सूत्रों में भी 'अचि' इस निमित्त पद का सम्बन्ध है। अतः रभ और लभ धातु से ण्वुल् प्रत्यय होने पर 'आरम्भकः' और 'लम्भकः' ये पद सिद्ध होते हैं।

65. नपुंसकस्य झलचः (7.1.72) सर्वनामस्थान-संज्ञक प्रत्यय के परे झलन्त तथा अजन्त नपुंसक शब्दों को नुम् का आगम होता है। यशांसि, पयांसि तथा ज्ञानानि, वनानि आदि पद इसके उदाहरण हैं।

66. इकोऽचि विभक्तौ (7.1.73) नुम् विधायक इस सूत्र का सोदाहरण परिचय प्रत्याहारात्मक सूत्रों में दिया जा चुका है।

इस सूत्र के 'अचि' पद का सम्बन्ध "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य" (पा. सू. 7.1.74) तथा "अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः" (पा. सू. 7.1.75) इन दो सूत्रों में भी है। प्रथम सूत्र से तृतीया-प्रभृति अजादि विभक्ति के परे पुंवद्भाव तथा द्वितीय से तृतीयादि अजादि विभक्ति में अनङ् आदेश होता है।

67. विभाषा तृतीयादिष्वचि (7.1.97) यह अतिदेश सूत्र है। इसमें "तृज्वत् क्रोष्टुः" (पा. सू. 7.1.95) सूत्र से 'तृज्वत्' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि-तृतीयाप्रभृति अजादि विभक्ति के परे क्रोष्टु शब्द को विकल्प से तृज्वद्भाव होता है। अतः 'क्रोष्टु+टा (आ)' इस अवस्था में अर्थकृत-सादृश्य मानकर क्रोष्टु को क्रोष्टृ-भाव होकर यण् होने पर 'क्रोष्ट्रा' तथा पक्ष में घिसंज्ञा के कारण "आङो नाऽस्त्रियाम्" सूत्र से 'आ' को ना आदेश होकर 'क्रोष्टुना' पद भी बनता है।

68. वदव्रजहलन्तस्याचः (7.2.3) इसमें "सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु" (पा. सू. 7.2.1) सूत्र का अनुवर्तन होता है अतः सूत्र का अर्थ है कि 'वद' 'व्रज' तथा हलन्त धातु के अच्

को वृद्धि होती है परस्मैपद सिच् प्रत्यय परे रहते। जैसा कि- 'अवादीत्, अव्राजीत् तथा अपाक्षीत्, अभैत्सीत्' में अच् को वृद्धि हुई है।

69. एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (7.2.10) इसमें "नेड् वशि कृति" (पा. सू. 7.2.8) सूत्र से 'नेट्' पद का अनुवर्तन होता है। सूत्र में 'अचः' यह पूर्वनिमित्त पञ्चम्यन्त पद है। इसका अर्थ है कि-उपदेशावस्था में एकाच् तथा अनुदात्तेत् धातु से परे इट् का आगम नहीं होता है। अतः दाता, कर्त्ता आदि पदों में "आर्धधातुकस्येड् वलादेः" (पा. सू. 7.2.35) सूत्र से प्राप्त इट् के आगम का निषेध इस सूत्र से हुआ है।

70. अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् (7.2.61) इसमें भी 'अचः' पूर्वनिमित्त पञ्चम्यन्त पद है, जो अजन्त धातु तासि प्रत्यय के परे नित्य अनिट् हो तो उससे परे थल् को इट् का आगम नहीं होता। जैसा कि- या ,चि, हु, धातु तास् के परे अनिट् हैं, अतः 'ययाथ, चिचेथ, जुहोथ, आदि थल् में भी अनिट् ही रहे।

71. वस्वेकाजाद्घसाम् (7.2.67) इस सूत्र में "इडत्यर्तिव्ययतीनाम्" (पा. सू. 7.2.66) सूत्र से इट् का अनुवर्तन होने से सूत्र का अर्थ है कि- द्विर्वचन एकाच् धातु, आकारान्त धातु तथा 'घस्' धातु से परे वसु प्रत्यय को इट् का आगम होता है। जैसा कि- आशिवान्, ययिवान् और से 'जक्षिवान्' आदि पदों में इट् का आगम हुआ है।

72. योऽचि (7.2.89) इस सूत्र में "युष्मदस्मदोरनादेशे" (पा. सू. 7.2.86) सूत्र का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ कि-आदेश रहित अजादि विभक्ति के परे अंगसंज्ञक युष्मद् तथा अस्मद् शब्द को यकारादेश होता है। जैसा कि त्वया, त्वयि, मया, मयि आदि पदों में अजादि विभक्ति के परे यकारादेश हुआ है।

इन छः सूत्रों के अच् प्रत्याहार परनिमित्त, उद्देश्य एवं पूर्वनिमित्त के रूप में प्रस्तुत हुए हैं और स्वदेशस्थ हैं, इनका अनुवर्तन अन्य किसी सूत्र में नहीं होता।

73. अचि र ऋतः (7.2.100) इस सूत्र से अजादि विभक्ति के परे तिसृ तथा चतसृ के स्थान में रेफ आदेश होता है। जैसा कि- स्त्रीलिङ्ग वाचक त्रि-चतुर् शब्द से जस्-शस् विभक्ति में "त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ" (पा. सू. 7.2.99) सूत्र से तिसृ-चतसृ आदेश होने पर इस सूत्र से ऋकार को रेफादेश होता है, जिससे-तिस्त्रः, चतस्रः आदि पद बनते हैं। यह रेफादेश पूर्वसवर्णदीर्घ, उत्व तथा ङि एवं सर्वनामस्थान विभक्ति में होनेवाले गुण का अपवादक है।

'अचि' इस पद का सम्बन्ध "ज़राया जरसन्यतरस्याम्" (पा. सू. 7.2.101) सूत्र में भी है, जिससे अजादि विभक्ति के परे जरा शब्द के स्थान में विकल्प से जरस् आदेश होता है। अतः जरा शब्द के-'जरसा-जरया' ये दोनों रूप बनते हैं।

74. अचो ञ्णिति (7.2.115) इस सूत्र में "मृजेर्वृद्धिः" (पा. सू. 7.2.114) सूत्र से वृद्धि पद का अनुवर्तन होता है और 'अचः' प्रत्याहार पद अङ्ग का विशेषण है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि- ञित्-णित् प्रत्यय पर में हो तो अजन्त अङ्ग को वृद्धि (आ ऐ औ) हो। निचायः, गौः आदि पद इसके उदाहरण हैं।

75. तद्धितेष्वचामादेः (7.2.117) इसमें पूर्वोक्त सूत्र से 'अचः' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि तद्धितीय ञित् तथा णित् प्रत्ययों के परे अङ्गसंज्ञक अच् में आदि अच् को वृद्धि आदेश हो। गार्ग्यः, औपगवः आदि पद इसके उदाहरण हैं।

'अचः' तथा 'अचाम्' इन दोनों पदों का सम्बन्ध आगे के बाइस सूत्रों में भी है। इनमें एक सूत्र से आकार आदेश एवं तीन से ऐच् का आगम तथा शेष अठारह सूत्रों से वृद्धि-आदेश होता है। इनका सोदाहरण परिचय इस प्रकार है-

सूत्र		कार्य	उदाहरण
1. देविकाशिंशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात्	7.3.1	आत्	दाविकमुदकम्
2. न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्	7.3.3	ऐच्-आगम	वैयाकरणः, सौवश्वः
3. द्वारादीनां च	7.3.4	"	दौवारिकः
4. न्यग्रोधस्य च केवलस्य	7.3.5	"	नैयग्रोधश्चमसः
5. किति च	7.2.118	वृद्धि	नाडायनः, चारायणः
6. अवयवादृतोः	7.3.11	उत्तरपदवृद्धि	पूर्ववार्षिकम्
7. सुसर्वार्द्धाज्जनपदस्य	7.3.12	"	सूपाञ्चालकः
8. दिशोऽमद्राणाम्	7.3.13	"	पूर्वपाञ्चालकः
9. प्राचां ग्रामनगराणाम्	7.3.14	"	पूर्वैषुकामशमः
10. संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च	7.3.15	"	द्विसांवत्सरिकः, द्विषाष्टिकः
11. वर्षस्याभविष्यति	7.3.16	"	द्विवार्षिक :
12. परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः	7.3.17	"	द्विकौडविकः
13. जे प्रोष्ठपदानाम्	7.3.18	"	प्रोष्ठपादो माणवकः
14. हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च	7.3.19	उभय पदवृद्धि	सौहार्दम्, सौभाग्यम्
15. अनुशतिकादीनां च	7.3.20	"	आनुशातिकम्
16. देवताद्वन्द्वे च	7.3.21	"	आग्निमारुतं कर्म्म
17. प्राचां नगरान्ते	7.3.24	"	सौह्मनागरः

सूत्र		कार्य	उदाहरण
18. जङ्गलधेनुवलजान्तस्य विभाषितमुत्तरम्	7.3.25	उभयपदवृद्धि	कौरुजङ्गलम्,कौरुजाङ्गलम्
19. अर्द्धात् परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा	7.3.26	"	अर्द्धद्रौणिकम्-आर्द्धद्रौणिकम्
20. प्रवाहणस्य ढे	7.3.28	"	प्रावाहणेयः-प्रवाहणेयः
21. नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञ-कुशलनिपुणानाम्	7.3.30	"	आशौचम्-अशौचम् आनैश्वर्यम्-अनैश्वर्यम्
22. यथातथयथापुरयोः पर्यायेण	7.3.31	"	आयथातथ्यम् आयाथातथ्यम्

76. क्सस्याचि (7.3.72) इस सूत्र में "घेर्लोपो लेटि वा" (पा. सू. 7.3.70) सूत्र से 'लोपः' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- अजादि तङ् प्रत्यय के परे क्स-प्रत्यय का लोप हो। जैसा कि दुह धातु से लुङ् लकार आताम् प्रत्यय के परे च्लि को क्स आदेश होने पर लोप होकर 'अधुक्षाताम्, अधुक्षन्त' आदि पद निष्पन्न होते हैं।

77. नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके (7.3.87) इसमें "मिदेर्गुणः" (पा. सू. 7.3.82) सूत्र से 'गुण' पद का अनुवर्तन होने से सूत्र का अर्थ होता है कि अजादि पित् सार्वधातुक के परे अभ्यस्तसंज्ञक लघूपध अङ्ग को "पुगन्तलघूपधस्य च" (पा. सू. 7.3.86) सूत्र से प्राप्त गुण का निषेध होता है। जैसा कि-नेनिजानि, अनेनिजम् आदि पदों में गुण का निषेध हुआ है।

78. अच उपसर्गात्तः (7.4.47) इसमें "दो दद् घोः" (पा. सूं. 7.4.46) सूत्र से 'दः' तथा 'घोः' पद का अनुवर्तन होता है। अतः इससे अजन्त उपसर्ग से परे घुसंज्ञक दा धातु के आकार को तकार होता है, तादि कित्प्रत्यय पर में हो तब। जैसा कि- प्र-पूर्वक दा तथा अवपूर्वक दा धातु से क्त-प्रत्यय होने पर 'प्रत्तम्, अवत्तम्' आदि पद बनते हैं।

79. सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् (7.4.54) इस सूत्र से सन्-प्रत्यय पर में हो तो अङ्गसंज्ञक मी, मा तथा घुसंज्ञक धातु एवं रभ, लभ, शक, पत, पद धातुओं के अच् को इस् आदेश होता है। मित्सति, दित्सति, आरिप्सते आदि सन्नन्त पद इसके उदाहरण हैं।

इस सूत्र के षष्ठ्यन्त अच् प्रत्याहार का सम्बन्ध आगे के " आप्ज्ञप्यृधामीत्" (पा. सू. 7.4.55) तथा "दम्भ इच्च" (पा. सूं. 7.4.56) इन दो सूत्रों में भी है। प्रथम सूत्र से अच् को ईकारादेश होकर-ईप्सति, ज्ञीप्सति, ईर्त्सति और द्वितीय सूत्र से अच् को ह्रस्व इकार तथा दीर्घ ईकार होने से धिप्सति-धीप्सति ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

80. अचि विभाषा (8.2.21) इसमें "कृपो रो लः" (पा. सू. 8.2.18) सूत्र से 'रो लः' तथा "ग्रो यङि" (पा. सू. 8.2.20) सूत्र से 'ग्रो' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि अजादि प्रत्यय के परे गृ धातु के रेफ को विकल्प से लकार आदेश हो। जिससे गिलति-गिरति, निगलनम्-निगरणम् आदि पद में लकार और रेफ का भी श्रवण होता है।

81. एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (8.2.37) अच् प्रत्याहार के अतिरिक्त बश्, भष् और झष् प्रत्याहार से युक्त इस सूत्र में "दादे र्धातोर्घः" (पा. सू. 8.2.32) सूत्र से 'धातोः' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- धातु के झषन्त एकाच् अवयव के अंशभूत बश् (ब ग ड द) को भष् (भ घ ढ ध) आदेश होता है, यदि वह बश् सकार या 'ध्व' शब्द के परे हो या पदान्त में हो। जैसा कि-बुध का-भोत्स्यन्ते, दुह का 'अधुग्ध्वम्' और पदान्त में 'गोधुक्' इसके उदाहरण हैं।

82. तयो र्य्वावचि संहितायाम् (8.2.108) इस सूत्र के द्वारा अच् के परे संहिता विषय में "एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्याऽऽदुत्तरस्येदुतौ" (पा. सू. 8.2.107) सूत्र से विहित आदेशभूत इकार तथा उकार को अच् प्रत्याहार परे रहते यकार तथा वकार आदेश होता है। जैसा कि 'अग्ने आशा' तथा 'पटो आशा' की संहिता में एकार को इकार और ओकार को उकार होने पर इस सूत्र से क्रमशः य और व होने से 'अग्ना३ याशा' 'पटा३ वाशा' पद का प्रयोग होता है।

83. ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् (8.3.32) इस सूत्र से ह्रस्व वर्ण के बाद यदि ङम् प्रत्याहार (ङ ण न) हो तो अच् परे रहते ङमुट् (ङुट्, णुट्, एवं नुट्) का आगम होता है। प्रत्यङ्ङात्मा, सुगण्णीशः, सन्नच्युतः- पद इसके क्रमशः उदाहरण हैं।

84. उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तियच्परः (8.3.87) षत्वविधायक इस सूत्र का अर्थ है कि- यकार और अच् पर में हो तो उपसर्ग सम्बन्धी इण् से परे और प्रादुस् शब्द से परे अस् धातु के सकार को षकार होता है। अतः निःष्यात्, प्रादुःष्यात् तथा निःषन्ति में षत्व हुआ है।

85. एकाजुत्तरपदे णः (8.4.12) इसमें " प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च" (पा. सू. 8.4.11) सूत्र का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि उत्तरपद एक अच् से युक्त हो तो पूर्वपदस्थ निमित्त के बाद प्रातिपदिकान्त, नुम् तथा विभक्ति विषयक नकार को णकार होता है। क्रमशः-वृत्रहणौ, क्षीरपाणि, क्षीरपेण इसके उदाहरण हैं।

86. कृत्यचः (8.4.29) इसमें "उपसर्गाद् बहुलम्" (पा. सू. 8.4.28) सूत्र के "उपसर्गात्' पद का सम्बन्ध है। अतः उपसर्गस्थ रेफ-षकार निमित्त से परे कृत् प्रत्यय

के नकार को णकार हो, यदि वह नकार अच् के उत्तर में हो तो। जैसा कि- प्र उपसर्गक या-धातु से विहित अनीयर् प्रत्यय के नकार को णत्व होकर 'प्रयाणीयम्' पद बनता है।

87. अचो रहाभ्यां द्वे (8.4.46) "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" (पा. सू. 8.4.45) सूत्र से इसमें 'यरः' पद का अनुवर्तन होता है। अतः अच् से परे रेफ तथा हकार के बाद यर्-प्रत्याहार (य व र आदि) को द्वित्व होता है। अर्क्कः, ब्रह्म्मा इसके उदाहरण हैं। पूर्वोक्त सूत्र तथा इस सूत्र में 'अचः' यह पञ्चम्यन्त पद है।

88. अनचि च (8.4.47) अच् प्रत्याहार से भिन्न हल् वर्ण पर में हो तो अच् के बाद पूर्वोक्त यर् को विकल्प से द्वित्व होता है। 'दद्ध्ध्यत्र, मद्ध्ध्वरिः' में धकार को द्वित्व हुआ है। यहाँ 'अनचि' पद में नञ् सादृश्य का बोधक है। अतः अच् भिन्न अच् सदृश हल् वर्ण पर में हो तो द्वित्व होता है।

89. शरोऽचि (8.4.49) द्वित्व निषेधक इस प्रत्याहारात्मक सूत्र का विवेचन पहले हो चुका है। अच् प्रत्याहार के प्रसङ्ग से पुनः यहाँ इसका उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार अकारादि-चान्त वर्ण से बननेवाला अच् प्रत्याहार तथा तद्घटित सूत्रों का परिचय सम्पन्न हुआ। अच्-प्रत्याहार और अच्-प्रत्यय का विवेचन च-अनुबन्ध से बननेवाले अन्य इच्, एच् और ऐच् प्रत्याहार-घटित सूत्रों के परिचय के बाद किया जायेगा।

7. इच् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

अच् प्रत्याहार के बाद च-अनुबन्ध से बननेवाले द्वितीय इच् प्रत्याहार का उपयोग निम्नलिखित पाँच सूत्रों में हुआ है, जिनका परिचय इस प्रकार है-

सूत्र		उदाहरण
1. इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः	3.1.36	ईहाञ्चक्रे, ऊहाञ्चक्रे, एधाञ्चक्रे
2. नादिचि	6.1.104	रामौ, रमे
3. इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च	6.3.68	गांमन्यः, स्त्रींमन्यः-स्त्रियंमन्यः
4. हलश्चेजुपधात्	8.4.31	प्रकोपणम्-प्रकोपनम्
5. इजादेः सनुमः	8.4.32	प्रेङ्खणम्

1. इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (3.1.36) इसमें "कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि" (पा. सू. 3.1.35) सूत्र से 'आम्' तथा 'लिटि' पद का अनुवर्तन होने से सूत्र का अर्थ होता है कि- इजादि गुरुमान् धातु से लिट् लकार में आम् हो, ऋच्छ धातु को छोड़कर। जैसा कि इजादि ईह, ऊह तथा एध धातु के लिट् लकार के 'ईहाञ्चक्रे, ऊहाञ्चक्रे, एधाञ्चक्रे आदि पदों में आम् प्रत्यय हुआ है।

2. नादिचि (6.1.104) इस सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होता है। इसमें "अकः सवर्णे दीर्घः" (पा. सू. 6.1.101) से 'दीर्घ' तथा "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (पा. सू. 6.1.102) से 'पूर्वसवर्ण' पद का अनुवर्तन होने से सूत्र का स्पष्ट अर्थ है कि- अवर्ण के बाद प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति सम्बन्धी इच् प्रत्याहार पर में हो तो पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता है। जैसा कि-'राम+औ, रमा+औ, आदि में पूर्णसवर्ण दीर्घ का निषेध होने पर "वृद्धिरेचि" (पा. सू. 6.1.88) से वृद्धि होकर रामौ तथा गुण होने से रमे आदि पद निष्पन्न होते हैं।

इस इच् का सम्बन्ध आगे के "दीर्घाज्जसि च" (पा. सू. 6.1.105) तथा "वा छन्दसि" (पा. सू. 6.1.106) इन दोनों सूत्रों में भी है। प्रथम से नित्य तथा द्वितीय से वैकल्पिक पूर्वसवर्ण-दीर्घ का निषेध होता है।

3. इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च (6.3.68) इसमें इच् और अच् इन दो प्रत्याहारों का योग है। अतः इसका सोदाहरण परिचय अच् प्रत्याहारघटित सूत्रों में पहले हो चुका है। यहाँ इच् प्रत्याहारघटित सूत्रों के प्रसङ्ग से पुनः स्मरण किया गया है।

4. हलश्चेजुपधात् (8.4.31) हल् प्रत्याहार हो आदि में जिसके ऐसे इजुपधक धातु से विहित कृत्प्रत्यय के अवयव नकार को विकल्प से णकार होता है, यदि वह नकार अच् के उत्तर में हो तो। इसका लक्ष्य प्र-उपसर्गक कुप धातु से विहित ल्युट्प्रत्यय को अन आदेश होने पर 'प्रकोपणम्' है। विकल्प विधि के कारण 'प्रकोपनम्' पद भी साधु है।

5. इजादेः सनुमः (8.4.32) उपसर्गस्थ निमित्त रहने पर इस सूत्र से भी कृत्प्रत्यय के नकार को णकार ही होता है, यदि वह कृत्प्रत्यय नुम् विशिष्ट इजादि हलन्त धातु से विहित हो तो। जैसा कि- प्र उपसर्गपूर्वक इदित् इखि धातु से ल्युट् प्रत्यय, नुमागम एवम् अनादेश होने पर 'प्रेङ्खणम्' में णत्व हुआ है।

8. एच् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

इच् के बाद च-अनुबन्ध से बननेवाला तीसरा एच् प्रत्याहार है। इसका उपयोग निम्नलिखित छः सूत्रों में हुआ है जिनका विवरण इस प्रकार है-

	सूत्र		उदाहरण
1.	कृन्मेजन्तः	1.1.39	स्मारं स्मारम्, जीवसे, पिबध्यै
2.	एच इग्घ्रस्वादेशे	1.1.48	अतिरि, अतिनु, उपगु
3.	आदेच उपदेशेऽशिति	6.1.45	ग्लाता, म्लाता
4.	एचोऽयवायावः	6.1.78	हरये, विष्णवे, नायकः, पावकः

सूत्र		उदाहरण
5. वृद्धिरेचि	8.1.88	कृष्णैकत्वम्, गङ्गौघः
6. एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्याऽऽदुत्तरस्येदुतौ	8.2..107	आयुष्मानेधि अग्निभूता३ इ, भद्रं करोषि पटा३ उ

1. कृन्मेजन्तः (1.1.39) इसमें "स्वरादिनिपातमव्ययम्" (पा. सू. 1.1.37) सूत्र से 'अव्यय' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि कृत्प्रत्यय से निष्पन्न मकारान्त तथा एजन्त शब्दों की अव्ययसंज्ञा होती है, जिसका फल "अव्ययादाप्सुपः" (2.4.82) सूत्र से सुप् विभक्ति का लुक् है। स्मारं स्मारम्, जीवसे, पिबध्यै आदि इसके उदाहरण हैं।

2. एच इग्घ्रस्वादेशे (1.1.48) एच् प्रत्याहार के स्थान में इक् प्रत्याहार रूप ह्रस्व-नियमन करनेवाले इस सूत्र का विवेचन इक् प्रत्याहारघटित सूत्रों में हो चुका है। इसमें एच् प्रत्याहार भी है, अतः यहाँ पुनः उल्लेख कर दिया गया।

3. आदेच उपदेशेऽशिति (6.1.45) इस सूत्र का अर्थ है कि- इत्संज्ञक शकारविशिष्ट प्रत्यय से भिन्न प्रत्यय पर में हो तो उपदेशावस्था में एजन्त धातु को आकार आदेश होता है। जैसा कि ग्लै-म्लै धातु के लुट् लकार में तास् प्रत्यय परे ऐकार को आकार आदेश होकर ग्लाता, म्लाता आदि पद बनते हैं। यहाँ 'एचः' यह षष्ठ्यन्त प्रत्याहार पद है।

4. एचोऽयवायावः (6.1.78) इसमें "इको यणचि" (पा. सू.6.1.77) सूत्र से 'अचि' पद का अनुवर्तन होता है। अतः इसका अर्थ है-अच् पर में हो तो एच् अर्थात् ए, ओ, ऐ, औ के स्थान में समान-संख्या के अनुसार अय्, अव्, आय्, आव्- ये आदेश होते हैं। जैसा कि हरे+ऐ=हरये, विष्णो+ए=विष्णवे, नै+अकः=नायकः, पौ+अकः=पावकः इसके क्रमशः उदाहरण हैं।

'एचः' इस षष्ठ्यन्त उद्देश्यपद का सम्बन्ध "वान्तो यि प्रत्यये" (पा. सू. 6.1.79) तथा "धातोस्तन्निमित्तस्यैव" (पा. सू. 6.1.80) इन दो सूत्रों में भी है। प्रथम सूत्र से वान्त (अव्, आव्) आदेश का विधान और द्वितीय से अव्-आव आदेश का नियमन होता है। प्रथम सूत्र के 'गव्यम्, नाव्यम्' तथा द्वितीय के 'लव्यम्, अवश्यलाव्यम्' लक्ष्य हैं।

5. वृद्धिरेचि (6.1.88) इसमें "आद् गुणः" (पा.सू. 6.1.87) सूत्र से 'आत्' पद का अनुवर्तन होता है। अतः अवर्ण से परे एच् हो तो दोनों के स्थान में वृद्धिरूप (आ,ऐ,औ) एक आदेश होता है। कृष्ण+एकत्वम्=कृष्णैकत्वम्, देव+ऐश्वर्यम्=देवैश्वर्यम्, गङ्गा+ओघः=गङ्गौघः आदि पद इसके उदाहरणं हैं।

इस 'एचि' पद का सम्बन्ध "एत्येधत्यूठ्सु" (पा. सू. 6.1.89) सूत्र में भी है। इससे भी वृद्धि एकादेश होता है। उपैति, उपैधते, प्रष्ठौहः' आदि पद इसके उदाहरण हैं।

6. एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्याऽऽदुत्तरस्येदुतौ (6.2..107) दूर से आह्वान (सम्बोधन) यदि न हो तो प्रगृह्यसंज्ञक से भिन्न प्लुतविषय एच् के पूर्वार्ध के स्थान में प्लुत आकार आदेश तथा उत्तरार्ध के स्थान में क्रमशः इकार और उकार आदेश होता है। जैसा कि- "आयुष्मानेधि अग्निभूता३ इ, पटा३ उ " में 'अग्निभूते' तथा 'पटो' इस सम्बोधन पद में एकार और ओकाररूप एच् प्रत्याहार के आधे अकाररूप अच् को आकार होकर प्लुत हुआ, तथा अवशिष्ट को 'इ' और 'उ' आदेश हुआ है। ऐ-ओ सन्ध्यक्षर हैं, ये 'अ-इ' तथा 'अ-उ' के योग से बने हैं। अतः अ को आकार, और इ-उ को इ-उ आदेश का विधान इस सूत्र से किया गया है।

9. ऐच् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

च अनुबन्ध से बननेवाला चौथा ऐच् प्रत्याहार है। इसका उपयोग निम्नलिखित तीन सूत्रों में हुआ है, जिनका परिचय इस प्रकार है-

	सूत्र		उदाहरण
1.	वृद्धिरादैच्	1.1.1	संज्ञासूत्र
2.	न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्	7.3.3	वैयाकरणः, सौवश्वः
3.	प्लुतावैच इदुतौ	8.2.106	ऐ३ तिकायन, औ३ पगव

1. वृद्धिरादैच् (1.1.1) इससे आ तथा ऐच् अर्थात् ऐ, औ वर्णों की वृद्धिसंज्ञा होती है। वृद्धि कहने पर आ ऐ और औ का बोध होता है। महर्षि पाणिनि का यह पहला सूत्र है। अतः इसमें संज्ञाशब्द 'वृद्धि' को पहले रखकर मङ्गल किया गया है। सामान्यतः उद्देश्य पहले और विधेय बाद में होता है, जैसा कि "अदेङ् गुणः, सुप्तिङन्तं पदम्" आदि सूत्रों में हुआ है।

2. न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् (7.3.3) इस सूत्र से वृद्धि का निषेध तथा पदान्त यकार-वकार से पूर्व ऐच् का आगम होता है। वैयाकरणः, सौवश्वः आदि इसके उदाहरण हैं।

3. प्लुतावैच इदुतौ (8.2.106) इस सूत्र से सम्बोधन पद के ऐच् अर्थात् ऐ औ को यदि प्लुत करना हो तो इकार-उकार को प्लुत का विधान होता है। जैसा कि 'ऐ३तिकायन! औ३पगव!, में ऐ तथा औ के अन्तिम अवयव इकार-उकार प्लुत हुए हैं।

3. अच् प्रत्याहार और अच् प्रत्यय

वर्णसमाम्नाय के स्वर-सम्बन्धी चार सूत्रों के ण, क, ङ, च- इन चार अनुबन्धों से बननेवाले नौ प्रत्याहारों की चर्चा की गयी, जिनमें अच् प्रत्याहार का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसका उपयोग उद्देश्य तथा पूर्व और उत्तर निमित्त के रूप में ही हुआ है। विधेय रूप में अच् प्रत्याहार का उपयोग किसी भी सूत्र में नहीं है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के सूत्रों में अच्-प्रत्याहार तथा अच्-प्रत्यय का भी योग है। अतः प्रत्यय और प्रत्याहार के निर्णय में सन्देह होना स्वाभाविक है। उस सन्देह की निवृत्ति के लिए ही महर्षि पाणिनि ने प्रत्ययवाले अच् को विधेयकोटि में रखा है। जैसा कि-

सूत्र		कार्य	उदाहरण
1. नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः	3.1.134	अच् प्रत्यय	पचः, नन्दनः, ग्राही
2. हरतेरनुद्यमनेऽच्	3.2.9	"	अंशहरः
3. एरच्	3.3.56	"	चयः, जयः, क्षयः
4. अर्श आदिभ्योऽच्	5.2.127	"	अर्शसः, उरसः, तुन्दः

इन सूत्रों में विधेय अच् का चकार-अनुबन्ध चित् स्वर का बोधक है, प्रत्याहार का नहीं। इसलिए अरूप प्रत्यय का ही प्रयोग में श्रवण होता है। इसके अतिरिक्त जहाँ अच् से प्रत्याहार का बोध होता है, वहाँ 'अचः' 'अचि' आदि उद्देश्य तथा निमित्तरूप में ही 'अच्' पद प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि पूर्वोक्त "अचश्च" "मिदचोऽन्त्यात्परः" "अचः कर्मकर्तरि" "अचो यत्" "द्विर्वचनेऽचि" "यचि भम्" आदि सूत्रों में षष्ठ्यन्त, पञ्चम्यन्त तथा सप्तम्यन्त अच् पद का स्पष्ट निर्देश है। विधेय पद प्रथमान्त होता है, क्योंकि वाक्यार्थ में विधेय पदार्थ ही मुख्य होता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जहाँ कहीं भी प्रत्याहार और प्रत्यय की स्वरूपतः एकता प्रतीत होती है, वहाँ प्रत्याहार से प्रत्यय को अलग करने के लिए सूत्रों में प्रथमान्त पद के रूप में प्रत्याहार का व्यवहार नहीं हुआ है। इसके उदाहरण में अण् प्रत्याहार के साथ अण् प्रत्यय भी आता है। जैसा कि-"केऽणः" "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" "अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" इन सूत्रों में 'अणः' पद उद्देश्य होने के कारण षष्ठ्यन्त है, अतः प्रत्याहार का बोधक है। इसके अतिरिक्त "कर्मण्यण्" (पा. सू. 3.2.1) "क्षेमप्रियमद्रेऽण् च" (पा. सू. 3.2.44) "शिवादिभ्योऽण्" (पा. सू. 4.1.112) "द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्" (पा. सू. 4.1.170) आदि सूत्रों में अण् पद प्रथमान्त रूप विधेय होने के कारण प्रत्यय का बोधक है। इसमें णकार अनुबन्ध वृद्धि का प्रयोजक है, प्रत्याहार का कारण नहीं।

"उरण् रपरः" सूत्र में प्रथमान्त 'अण्' प्रत्याहार पद विधेय नहीं है, किन्तु जिन सूत्रों से ऋकार के स्थान में अण् अर्थात् अ इ उ का विधान होता है, उनमें यह नियम करता है, कि वे रेफसहित ही होवें।

इस प्रकार प्रत्याहार और प्रत्यय की शब्दतः एकरूपता के संदेह को निवारण के लिए यह निर्णय युक्तिसंगत सिद्ध होता है।

चतुर्थ प्रभा

1. टकारादि अनुबन्ध-सम्बन्धी प्रत्याहारघटित सूत्र

वर्णसमाम्नाय के आद्य चार स्वर-सम्बन्धी सूत्रों के अनुबन्धों से बननेवाले प्रत्याहारों की उपयोगिता के बाद क्रम-प्राप्त व्यञ्जन-सम्बन्धी सूत्रों के अनुबन्धों से बननेवाले प्रत्यहारघटित सूत्रों का सोदाहरण परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

(क) अट् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

ह य व र ट् (मा. सू. 5) वर्णसमाम्नाय के व्यञ्जन सूत्रों में पहले 'हयवरट्' सूत्र है। इसके टकार अनुबन्ध से केवल एक अट् प्रत्याहार बनता है, जिसका उपयोग पाणिनि के चार सूत्रों में हुआ है, जिनका विवरण क्रमशः इस प्रकार हैः-

1. **आतोऽटि नित्यम्** (8.3.3) इस सूत्र में "अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा" (पा. सू. 8.3.2) से 'अनुनासिकः' तथा 'पूर्वस्य' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- अट् अर्थात् अ इ उ ऋ ऌ ए ओ, ऐ, औ, ह य व र-वर्ण पर में हो तो रु से पूर्व आ को अवश्य ही अनुनासिक होता है। जैसा कि 'महाँ इन्द्रः' का आकार अनुनासिक है।

2. **दीर्घादटि समानपादे** (8.3.9) इसमें "नश्छव्यप्रशान्" (पा. सू. 8.3.7) सूत्र से 'नः' तथा "मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि" (प. सू. 8.3.1.) सूत्र से 'रुः' एवम् "उभयथर्क्षु" (पा. सू. 8.3.8.) सूत्र से 'उभयथा' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- उद्देश्य और निमित्त यदि एक पाद में हो तथा अट् पर में हो तो दीर्घ से परे नकार को विकल्प से रु होता है। जैसा कि- 'देवान् अच्छा सुमती' 'महान् इन्द्रो य ओजसा' आदि के नकार को रु होता है और "आतोऽटि नित्यम्" सूत्र से आकार को अनुनासिक होने पर 'देवाँ अच्छा सुमती' 'महाँ इन्द्रो य ओजसा' के रूप में उच्चरित हुआ है।

3. **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (8.4.2) इसमें "रषाभ्यां णो नः समानपदे" (पा.सू. 8.4.1) इस सूत्र का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि-रेफ-षकार के बाद अट् प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग तथा आङ्, नुम् के व्यवधान रहने पर भी नकार को णकार होता है, निमित्त और उद्देश्य यदि एक पद में हो तो। रामेण, रामाणाम् पद अट् व्यवधान के उदाहरण हैं।

4. **शश्छोऽटि** (8.4.62) इसमें "न पदान्ताट्टोरनाम्" (पा. सू. 8.4.41) सूत्र से 'पदान्तात्' पद तथा "झयो होऽन्यतरस्याम्" का 'झयः' प्रत्याहार पद और 'अन्यतरस्याम्' का सम्बन्ध होने से सूत्र का अर्थ है कि- अट् पर में हो तो पदान्त झय् के बाद शकार को विकल्प से छकार होता है। अतः तत्+शिवः का 'तच्छिवः-तच्शिवः' ये दो रूप बनते हैं।

अट् प्रत्याहार और अट् आगम अच् प्रत्याहार और अच् प्रत्यय के समान अट् प्रत्याहार और अट् आगम के सन्देह को दूर करने के लिए प्रत्याहार निमित्त-रूप से कारण कोटि में हैं, अतः अट् का आगम प्रथमान्त पद के रूप में विधेय है। जैसा कि-"लुङ्-लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः" (पा. सू. 6.4.71) "अड्गार्ग्यगालवयोः" (पा.सू. 7.3.99) इन दो सूत्रों में विधेय अट् का आगम प्रथमान्त पद के रूप में निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त अट् प्रत्याहार पूर्वोक्त "आतोऽटि नित्यम्" "दीर्घादटि समानपादे" आदि सूत्रों में सप्तम्यन्त पद के द्वारा उल्लिखित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्यय, आगम आदि में प्रत्याहार के भ्रम को दूर करने के लिए महर्षि पाणिनि ने यही शैली अपनायी है।

ल ण् (मा. सू. 6) इस सूत्र के द्वितीय णकार अनुबन्ध से अण्, इण् तथा यण् ये तीन प्रत्याहार बनते हैं, जिनमें अण् प्रत्याहार का उपयोग केवल "अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः" सूत्र में है। सूत्र का अर्थ है कि- अण् प्रत्याहार और उदित् वर्ण अपने सजातीय के बोधक होते हैं, यदि अण् प्रत्याहार का अवयव विधेय न हो तो। जैसा कि- "आद् गुणः" (पा. सू. 6.1.87) "अस्य च्वौ" (पा. सू. 7.4.32) आदि सूत्रों में अवर्ण से अत्व जाति का बोध होता है। अतः 'रमा+ईशः=रमेशः' में गुण एकादेश तथा 'गाङ्गीभवति, खट्वीभवति' में च्वि-प्रत्यय के परे आकार को ईकार आदेश हुआ है।

"त्यदादीनामः" (पा. सू. 7.2.102) सूत्र का अकार विधेय है, अतः इससे सजातीय का बोध नहीं होता, जिसका फल है- इदम् शब्द में मकार के स्थान में निरनुनासिक अकार का विधान। अन्यथा मकार के स्थान में अनुनासिक अँकार हो जाता।

(ख) इण् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

1. इणः षः (8.3.39) इण् प्रत्याहार का प्रयोग "इणः षः" "इण्कोः" तथा "इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्" इन तीन सूत्रों में है, जिनमें "इणः षः" सूत्र का विवरण तृतीय प्रभा में दिया गया है, प्रसङ्गतः पुनः यहाँ इसका उल्लेख कर दिया गया।

2. इण्कोः (8.3.57) यह अधिकार सूत्र है। अर्थात् अगले विधि सूत्रों से होनेवाले कार्य इण्=इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ल तथा कवर्ग को पूर्वनिमित्त मानकर ही होंगे। जैसा कि- 'अग्निषु, वायुषु' आदि पदों में "आदेशप्रत्यययोः" (पा. सू. 8.3.59) सूत्र से इण् प्रत्याहार इ, उ, के अव्यवहितोत्तर विद्यमान सकार को षकार हुआ है। इससे भिन्न 'रमासु, उमासु' में प्रत्यय के सकार रहने पर भी इण्-प्रत्याहार का सम्बन्ध न होने के कारण षत्व नहीं हुआ।

3. इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् (8.3.78) इस सूत्र में भी 'इणः' पञ्चम्यन्त प्रत्याहार पद पूर्वनिमित्त के रूप में प्रयुक्त है। "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" (पा. सू. 8.3.55) सूत्र के अधिकार में यह सूत्र है, अतः इससे इणन्त अङ्ग से परग षीध्वम् तथा लुङ्-

लिट्-सम्बन्धी अपदान्त धकार को मूर्धन्य (ढकार) आदेश होता है। क्रमशः- च्योषीढ्वम्, अच्योढ्वम्, एधाञ्चकृढ्वे आदि इसके उदाहरण हैं।

इस इण् प्रत्याहार का सम्बन्ध "विभाषेटः" (पा. सू. 8.3.79) सूत्र में भी है, जो विकल्प से मूर्धन्यादेश करता है। जैसा कि- लविषीढ्वम्-लविषीध्वम्, अलविढ्वम्-अलविध्वम्, लुलुविढ्वे-लुलुविध्वे आदि में पाक्षिक ढत्व हुआ है।

इण् प्रत्याहार और इण् धातु 'अ इ उ ण्, और 'ल ण्' इन दो सूत्रों के समान अनुबन्धों से बननेवाले प्रत्याहारों में अण् और इण् प्रत्याहार के सम्बन्ध में व्याख्यान के द्वारा यह निश्चय हो चुका है कि पहले णकार तक अण् प्रत्याहार और दूसरे णकार तक इण् प्रत्याहार पाणिनि को समान्यतः अभीष्ट है। केवल "अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः"(पा. सू. 1.1.68) सूत्र में दूसरे णकार तक अण् का सम्बन्ध है।

इण् प्रत्याहार और इण् धातु के सम्बन्ध में भी सन्देह सम्भव है, क्योंकि "इणो गा लुङि" (पा. सू. 2.4.45) "इणो यण्" (पा. सू. 6.4.81) तथा "दीर्घ इणः किति" (पा. सू. 7.4.69) सूत्र में णकार अनुबन्ध के साथ 'इ' धातु का उपादान है। अतः इन सूत्रों को सुनकर 'इण्' पद में प्रत्याहार का भ्रम होगा, जिसे दूर करने के लिए व्याख्यान ही शरण है, क्योंकि व्याकरण शास्त्र में जहाँ कहीं भी सन्देह होता है, वहाँ व्याख्यान के द्वारा ही निर्णय लिया जाता है जैसा कि- महाभाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है- "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति र्नहि सन्देहादलक्षणम्"। (परिभाषा सं-1) इसलिए "इणो गा लुङि" " इणो यण्" तथा "दीर्घ इणः किति" सूत्र में इण् धातु है प्रत्याहार नहीं, इसका निश्चय भी पदप्रयोग तथा पाणिनि के प्रासङ्गिक सूत्रों के व्याख्यान द्वारा किया जा सकता है।

जैसा कि-यदि 'इण्' को प्रत्याहार मानकर "इणो गा लुङि" सूत्र का अर्थ किया जाय तो, इण् प्रत्याहार-घटक 'उङ्' (उङ् शब्दे) और 'ऋ' (ऋ गतिप्रापणयोः) धातु को भी लुङ् लकार में 'गा' आदेश होने से 'औष्ट' और 'आर्षीत्' पद न बनकर 'अगात्' होने लगेगा, जो अभीष्ट नहीं है। अतः यहाँ इण् धातु है प्रत्याहार नहीं।

"इणो यण्" इस द्वितीय सूत्र में भी इण् धातु ही है, क्योंकि अगले "ओः सुपि" (पा. सू. 6.4.83) सूत्र में 'ओः' पद का उपादान है। यदि प्रत्याहार होता तो इण् से 'उ' का भी ग्रहण हो जाता, क्योंकि जिस प्रकार इस सूत्र में "इणो यण्" से यण् प्रत्याहार पद का अनुवर्तन होता है उसी प्रकार यदि इण् प्रत्याहार होता तो, इण् का भी अनुवर्तन होने से "ओः सुपि" में ओकार-ग्रहण नहीं करना पड़ता और उवर्णान्त खलपू आदि शब्दों में यण् होकर 'खलप्वौ, खलप्वः' आदि पद सिद्ध हो जाते। अतः "ओः सुपि" का ओकार-ग्रहण बताता है कि पूर्वसूत्र 'इणो यण्' में इण् धातु है प्रत्याहार नहीं।

तीसरे "दीर्घ इणः किति" सूत्र के इण् का निर्णय तो प्रथम "इणो गा लुङि" के निर्णय पर ही निर्भर है। इसमें भी इण् को प्रत्याहार मानने पर पूर्वोक्त 'उङ्' और 'ऋ' धातु के लिट् सम्बन्धी प्रयोग अनिष्ट हो जायेंगे।

इस प्रकार व्याख्यान के द्वारा इण् प्रत्याहार और इण् धातु का अन्तर ज्ञात होता है।

(ग) यण् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

तीसरे यण् प्रत्याहार का उपयोग निम्नलिखित आठ सूत्रों में हुआ है-

सूत्र		उदाहरण
1. इग्यणः सम्प्रसारणम्	6.1.45	संज्ञासूत्र
2. इको यणचि	6.1.77	सुद्ध्युपास्यः
3. उदात्तयणो हल्पूर्वात्	6.1.174	कर्त्री, हर्त्री, कर्त्रा
4. इणो यण्	6.4.81	यन्ति, आयन्
5. स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः	6.4.156	स्थविष्ठः, दविष्ठः,
6. ओः पुयण्ज्यपरे	7.4.80	यियविषति
7. उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य	8.2.4	सकृल्ल्व्याशा
8. संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः	8.2.43	प्रद्राणः, ग्लानः

1. इग्यणः सम्प्रसारणम् (1.1.45) सम्प्रसारण-संज्ञाविधायक इस सूत्र का विवेचन प्रत्याहारात्मक सूत्र के क्रम में पहले हो चुका है, यण् प्रत्याहार के प्रसङ्ग से पुनः यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

2. इको यणचि (6.1.77) सूत्र के विषय में भी यही बात है। इस सूत्र का विवरण भी प्रत्याहारात्मक सूत्रों में हो चुका है।

3. उदात्तयणो हल्पूर्वात् (6.1.174) सूत्र में "कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः" (पा. सू. 6.1.59) सूत्र से 'उदात्त' तथा "अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम्" (पा. सू. 6.1.170) सूत्र से 'असर्वनामस्थान' तथा "शतुरनुमो नद्यजादी" (पा. सू. 6.1.173) सूत्र से 'नद्यजादी' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- हल् हो पूर्व में जिसके ऐसे उदात्तस्थानिक यण् से परे नदीसंज्ञक प्रत्यय तथा असर्वनामस्थान अजादि विभक्ति को उदात्त होता है। कर्त्री, हर्त्री, कर्त्रा, हर्त्रा आदि इसके उदाहरण हैं। इस सूत्र के 'यणः' इस पञ्चम्यन्त प्रत्याहार पद का सम्बन्ध "नोङ्धात्वोः" (पा. सू. 6.1.175) सूत्र में भी है। अतः उङ्प्रत्ययस्थ तथा धातुस्थ उदात्त के स्थान में विहित हल्पूर्वक यण् से परे अजादि असर्वनामस्थान विभक्तियाँ उदात्त नहीं होतीं। जैसा कि-'ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वे' आदि पदों में वकार रूप यण् के बाद 'टा' और 'ङे' विभक्ति को पूर्वसूत्र से प्राप्त उदात्त का निषेध हुआ है।

4. इणो यण् (6.4.81) सूत्र में "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (पा. सू. 6.4.77) सूत्र से 'अचि' पद का अनुवर्तन होता है। अतः इससे अच् पर में हो तो इण् धातु को यण् होता है। जैसा कि- 'इ+ अन्ति=यन्ति, आ इ+अन्=आयन्' में यण् हुआ है।

इस यण् -प्रत्याहार का सम्बन्ध आगे के "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य" (पा. सू. 6.4.82) "ओः सुपि" (पा. सू. 6.4.83) "वर्षाभ्वश्च" (पा. सू. 6.4.84) "न भूसुधियोः" (पा. सू. 6.4.85) "हुश्नुवोः सार्वधातुके" (पा. सू. 6.4.87) इन पाँच सूत्रों में भी है। इनमें "न भूसुधियोः" से यण् का निषेध तथा शेष चार सूत्रों से यण् होता है।

5. स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः (6.4.156) सूत्र में "ढे लोपोऽकद्र्वाः" (पा. सू. 6.4.147) सूत्र से 'लोप' तथा "तुरिष्ठेमेयस्सु" (पा. सू. 6.4.154) सूत्र से 'इष्ठेमेयस्सु' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र से इष्ठन्, ईयसुन्, इमनिच् प्रत्यय के परे स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र तथा क्षुद्र शब्द के यण्-प्रत्याहारवाले पर भाग का लोप होता है और यण् से पूर्व वर्ण को गुण होता है। जैसा कि- 'अतिशयेनायमेषां स्थूलः' इस अर्थ में स्थूल शब्द से इष्ठन् प्रत्यय होने पर स्थूल के लकार का लोप तथा उससे पूर्व ऊकार को गुण और अवादेश होकर 'स्थविष्ठः' यह पद बनता है। इसी प्रकार दूर से 'दविष्ठः' दवीयान्, युवन् से यविष्ठः, यवीयान् आदि पद निष्पन्न होते हैं। इनमें यण्-प्रत्याहारवाले ल, र, वन् का लोप हुआ है।

6. ओः पुयण्ज्यपरे (7.4.80) सूत्र में "भृञामित्" (पा. सू. 7.4.76) सूत्र से 'इत्' तथा "सन्यतः" (पा. सू. 7.4.79) से 'सनि' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- सन् प्रत्यय के परे अवर्णपरक पवर्ग, यण् तथा जकार हो तो उवर्णान्त अभ्यास को इकार आदेश होता है। पिपविषते, यियविषति, रिरावयिषति,लिलावयिषति तथा जिजावविषति आदि इसके उदाहरण हैं।

इस यण् प्रत्याहार का सम्बन्ध आगे के "स्रवतिश्रृणोतिद्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा" (पा. सू. 7.4.81) सूत्र में भी है। इससे भी सन् प्रत्यय के परे अवर्ण परक यण् प्रत्याहार को निमित्त मानकर 'स्रु' आदि धातुओं के अभ्यास उकार को विकल्प से इकार होता है। जिससे-सिस्रावयिषति-सुस्रावयिषति, शिश्रावयिषति-शुश्रावयिषति आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

7. उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य यणः (8.2.4) सूत्र में 'यणः' यह पञ्चम्यन्त पद है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- उदात्तस्थानीय तथा स्वरितस्थानीय यण् के बाद अनुदात्त को स्वरित होता है। उदात्त यण् के बाद अनुदात्त को स्वरित के उदाहरण हैं- कुमार्यै, कुमार्याः आदि पद, क्योंकि कुमारी का ईकार उदात्त हुआ, उससे परे ङे, ङसि आदि को इससे स्वरित हुआ है। स्वरित यण् के बाद अनुदात्त को स्वरित का उदाहरण 'खलप्व्याशा' है।

8. संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः (8.2.43) इसमें "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः" (पा. सू. 8.2.42) सूत्र से 'निष्ठातो नः' इस अंश का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- यण् विशिष्ट संयोगादि आकारान्त धातु से विहित निष्ठासंज्ञक तकार को नकार होता है। द्राणः-द्राणवान्, ग्लानः- ग्लानवान् आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। 'द्रा' तथा 'ग्लै' धातु से क्त-क्तवतु प्रत्यय करने पर ये पद बनते हैं।

अम् यम् ङम् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

ञ म ङ ण न म् (मा. सू. 7) 'लण्' सूत्र के बाद 'ञमङणनम्' सूत्र के मकार-अनुबन्ध से बननेवाले अम्, यम्, ङम्-ये तीन प्रत्याहार हैं। इनमें अम् प्रत्याहार का उल्लेख निम्नलिखित सूत्र में है-

1. पुमः खय्यम्परे (8.3.6) इस सूत्र से पुम् के मकार को रु होता है, क्योंकि इसमें "मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि" (पा. सू. 8.3.1) सूत्र से 'रु' पद का अनुवर्तन है, अतः सूत्र का अर्थ है कि- अम् प्रत्याहारपरक खय् प्रत्याहार पर में हो तो पुम् के मकार को रु होता है। जैसा कि 'पुम्+कोकिलः, पुम्+पुत्रः' में पहले मकार को रु हुआ है, फिर विसर्ग, सत्व तथा अनुनासिक होकर 'पुँस्कोकिलः, पुँस्पुत्रः' आदि पद निष्पन्न होते हैं।

इस अम् प्रत्याहार का सम्बन्ध अगले "नश्छव्यप्रशान्" (पा. सू. 8.3.7) सूत्र में भी है। पहले सूत्र में अम् प्रत्याहार खय् प्रत्याहार का विशेषण था और इसमें छव् प्रत्याहार का। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि अम्परक छव् पर में हो तो नकार को रु हो जाता है, प्रशान् शब्द को छोड़कर। जैसा कि-'शार्ङ्गिन्+छिन्धि=शार्ङ्गिँश्छिन्धि, चक्रिन्+त्रायस्व=चक्रिँस्त्रायस्व आदि में नकार को रु होने पर विसर्ग, सत्व आदि होते हैं।

2. हलोयमां यमि लोपः (8.4.63) इस एक सूत्र में यम् प्रत्याहार का उपयोग हुआ है। इस सूत्रघटक यम् प्रत्याहार का विवरण प्रत्याहारात्मक सूत्रों के प्रसङ्ग में पहले दिया गया है।

3. ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् (8.3.32) मकार अनुबन्ध से बननेवाला ङम् प्रत्याहार का उपयोग भी एकमात्र इसी सूत्र में हुआ है। इसका विवरण भी पहले अच्-प्रत्याहारघटित सूत्रों में हो गया है। म- अनुबन्ध से बननेवाले अम्, यम् ङम् इन तीन प्रत्याहारों का क्षेत्र अल्प है।

झ भ ञ् (मा. सू. 8) इस सूत्र के ञकार अनुबन्ध से केवल यञ् प्रत्याहार बनता है, जिसका उल्लेख "अतो दीर्घो यञि"(पा. सू. 7.3.101) सूत्र में है। इसमें "तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके" (पा. सू. 7.3.95) सूत्र के 'सार्वधातुके' पद का अनुवर्तन होता है। अतः इससे सार्वधातुक संज्ञक यञादि प्रत्यय के परे अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। भवामि, भवावः, भवामः आदि इसके उदाहरण हैं।

"सुपि च" (पा. सू. 7.3.102) सूत्र के साथ भी इस सूत्र का सम्बन्ध है। अतः यञादि सुप् परे रहते अदन्त अङ्ग को यह सूत्र दीर्घ करता है। जैसा कि- 'राम य, राम भ्याम्, में दीर्घ होकर 'रामाय, रामाभ्याम्' आदि पद निष्पन्न होते हैं।

घ ढ ध षू (मा. सू. 9) इस सूत्र के षकार अनुबन्ध से बननेवाले दो प्रत्याहार हैं- झषू और भषू । जिनमें झषू प्रत्याहार का उल्लेख "झषस्तथोर्धोऽधः" (पा. सू. 8.2.40) और "एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः" (पा. सू. 8.2.37) इन दो सूत्रों में है।

प्रथम सूत्र में 'झषः' यह पञ्चम्यन्त प्रत्याहार पद पूर्वनिमित्तक है। जिसका अर्थ है कि- झषू (झ भ घ ढ ध) के बाद तकार एवं थकार को धकार होता है 'धा' धातु को छोड़कर। जैसा कि- लभ्+ता=लब्धा, अलभ्+थास्=अलब्धाः आदि पदों में त-थ को ध हुआ है। द्वितीय सूत्र "एकाचो बशो भषू झषन्तस्य स्ध्वोः" सूत्र तो प्रत्याहार के माने में सबसे धनी है। इसमें चार प्रत्याहारों का सम्बन्ध है- अचू, बशू, भषू और झषू। इतने प्रत्याहारों को बाँधने वाला दूसरा कोई सूत्र नहीं है। इस सूत्र का विवेचन अचू प्रत्याहारघटित सूत्रों में हो चुका है।

ज ब ग ड द शू (मा. सू. 10) इस सूत्र के शकार अनुबन्ध से अशू, हशू, वशू, झशू, जशू एवं बशू ये छः प्रत्याहार बनते हैं। जिनमें अशू प्रत्याहार का सम्बन्ध पाणिनि के केवल एक सूत्र से है, जिसका सोदाहरण परिचय इस प्रकार है-

1. भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि (8.3.17) इसमें "रोः सुपि" (पा. सू. 8.3.16) सूत्र से 'रोः' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ है कि-भो, भगो, अघो शब्दपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक 'रु' के अवयव रेफ को यकार आदेश होता है, अशू पर में हो तो। भो अत्र, भो ददाति, भगो अत्र, भगो ददाति, अघो अत्र, अघो ददाति तथा 'क आस्ते' 'ब्राह्मणा ददति' आदि प्रयोगों में 'स्' को रु होने पर रेफ को यकार होकर 'य्' का लोप हुआ है। यहाँ यकार के विधान तथा उसके लोप में भी अशू प्रत्याहार को ही निमित्त माना गया है। क्योंकि-"व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य" (पा. सू. 8.3.18) "लोपः शाकल्यस्य" (पा. सू. 8.3.19) "ओतो गार्ग्यस्य" (पा. सू. 8.3.20) इन तीन सूत्रों में भी 'अशि' प्रत्याहार पद का अनुवर्तन होता है। इनमें प्रथम सूत्र से य-व लघुप्रयत्नतर होते हैं, द्वितीय सूत्र से यकार-वकार का वैकल्पिक लोप और तृतीय सूत्र से ओकार के बाद यकार का नित्य ही लोप होता है। सूत्र में आचार्य गार्ग्य का उल्लेख सम्मान के लिए है, विकल्प के लिए नहीं।

1. हशि च (6.1.114) इसी एक सूत्र में हशू प्रत्याहार है। इसका सोदाहरण विवेचन तृतीय प्रभा के प्रत्याहारात्मक सूत्रों में हो चुका है, शकार अनुबन्ध से बननेवाले प्रत्याहारों के प्रसङ्ग से पुनः यहाँ प्रस्तुत किया गया।

1. नेड् वशि कृति (7.2.8) हशू प्रत्याहार की तरह वशू प्रत्याहार भी केवल इसी

एक सूत्र में मिलता है। इससे वशादि कृत् प्रत्यय के परे इट् का निषेध होता है। जैसा कि- ईश्, दीप् भस् एवं याच् धातुओं से विहित क्रमशः- वरच्[1], र[2], मनिन्[3] एवं नङ्[4] प्रत्यय वशादि कृत् हैं, अतः ईश्वरः, दीप्रः भस्म एवं याच्ञा में इट् का आगम नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त-ईशिता-ईशितुम्, दीपिता-दीपितुम्, भसिता-भसितुम्, याचिता-याचितुम् आदि प्रयोगों में तृच् और तमुन् प्रत्यय के आदि में वश् प्रत्याहार-घटित वर्ण न होने से इट् हो जाता है।

1. झलां जशोऽन्ते (8.2.39)
2. झलां जश् झशि (8.4.53) जश्-झश् झल् प्रत्याहार वाले इन दो सूत्रों का विवेचन पूर्व-प्रभा में कर दिया गया है।

1. एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (8.2.37) बश् प्रत्याहार का उल्लेख केवल इसी एक सूत्र में है। इसका विवरण भी तृतीय प्रभा में दिया जा चुका है।

इस सूत्र के 'एकाचः' इस अंश को छोड़कर अन्य सभी पदों का सम्बन्ध "दधस्तथोश्च" (पा. सू. 8.2.38) सूत्र में है। अतः इस सूत्र से भी द्विर्वचन 'धा' धातु के झषन्त बश् को भष् आदेश होता है तकार, थकार और सकार एवं ध्व-शब्द को निमित्त मानकर। जैसा कि निमित्त के क्रम से -धत्तः, धत्थः, धत्से, धत्स्व, धद्ध्वम् में बश्रूप दकार को धकार हुआ है।

इस प्रकार श-अनुबन्ध से बनने वाले अश्, हश्, वश् झश्, जश् और बश् इन छः प्रत्याहारों के उपयोग का परिचय प्राप्त होता है।

ख फ छ ठ थ च ट त व् (मा. सू. 11) वर्णसमाम्नाय के चौदह सूत्रों में यह सबसे बड़ा सूत्र है। इसमें आठ वर्ण हैं। ये आठ वर्ण सृष्टि-प्रक्रिया में किसके प्रतीक हैं, इसका विवरण पञ्चम प्रभा में दिया जायेगा। इस सूत्र के व-अनुबन्ध से केवल एक छव् प्रत्याहार बनता है, जिसका उपयोग केवल अधोलिखित सूत्र में हुआ है।

1. नश्छव्यप्रशान् (8.3.7) इससे अम् परक छव् प्रत्याहार के परे प्रशान् शब्द से भिन्न नकारान्त शब्द को रु आदेश होता है। जैसा कि- चक्रिन्+त्रायस्व=चक्रिँस्त्रायस्व में नकार को रु होने पर विसर्ग, सत्व आदि की प्रक्रिया पूरी होती है। इस प्रत्याहार का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है।
क प य् (मा. सू. 12) य-अनुबन्ध से बननेवाले यय्, मय्, झय् और खय् ये चार प्रत्याहार हैं। जिनमें यय् प्रत्याहार का सन्निवेश केवल निम्नलिखित सूत्र में हुआ है-

---

1. स्थेशभासपिसकसो वरच् (3.2.175)
2. नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः (3.2.167)
3. सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ. सू. 584)
4. यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (3.3.90)

1. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (8.4.58) इससे यय् प्रत्याहार को निमित्त मानकर अनुस्वार को परसवर्ण अर्थात् निमित्तवाले वर्ण का सजातीय अनुनासिक वर्ण होता है। जैसा कि अं+कितः=अङ्कितः, अं+चितः=अञ्चितः, कुं+ठितः=कुण्ठितः, शां+तः=शान्तः, गुं+फितः=गुम्फितः में क्रमशः अनुस्वार को ङ्, ञ्, ण्, न्, म्,-रूप अनुनासिक वर्ण हुए हैं।

इस यय् प्रत्याहार का सम्बन्ध "वा पदान्तस्य" (पा. सू. 8.4.59) सूत्र में भी है। यह भी यय् प्रत्याहार परे रहते पदान्तगत अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण करता है। जैसा कि-त्वङ्करोषि-त्वं करोषि, सँय्यन्ता-संयन्ता, सँव्वत्सरः-संवत्सरः में पाक्षिक परसवर्ण हुआ है।

1. मय उञो वो वा (8.3.33) इसमें "ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्" (पा. सू. 8.3.32) सूत्र से 'अचि' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- अच् पर में हो तो मय् प्रत्याहार के बाद उञ् को विकल्प से वकार होता है। जैसा कि 'किम् उ उक्तम्' में उकार को वकार होने पर 'किम्वुक्तम्' तथा पक्ष में 'किमु उक्तम्' ये दोनों पद सिद्ध होते हैं। इसी एक सूत्र में मय् प्रत्याहार का योग है।

झय् प्रत्याहार का उपयोग पाणिनि के निम्नलिखित तीन सूत्रों में हुआ है-

1. झयः	5.4.111	उपसमिधम्-उपसमित्
2. झयः	8.2.10	विद्युत्वान्
3. झयो होऽन्यतरस्याम्	8.4.62	वाग्घरिः-वाग्हरिः

जिनमें प्रथम एवं द्वितीय सूत्र का विवरण तृतीय प्रभा में दिया जा चुका है। पहले सूत्र से अच् प्रत्यय और दूसरे से मतुप् के मकार को वकार आदेश होता है। दोनों में झय् प्रत्याहार पूर्वनिमित्त के रूप में उपात्त है।

"झयो होऽन्यतरस्याम्" इस तृतीय सूत्र में भी 'झयः' पञ्चम्यन्त पद होने से पूर्वनिमित्तक है। इसमें "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" (पा. सू. 8.4.58) सूत्र से 'सवर्ण' तथा "उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्य" (पा. सू. 8.4.61) सूत्र से 'पूर्व' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि-झय् प्रत्याहार के बाद हकार को विकल्प से पूर्वसवर्ण हो। जैसा कि 'वाग्हरिः-वाग्घरिः, अज्ह्रस्वः- अज्झ्रस्वः, श्वलिड्हसति-श्वलिड्ढसति, तद्हितम्-तद्धितम्, त्रिष्टुब्हसति-त्रिष्टुब्भसति' में प्रत्येक वर्ग के झय् प्रत्याहार वाले वर्ण को निमित्त मानकर हकार को क्रमशः घकार, झकार, ढकार, धकार, भकार-रूप पूर्वसवर्ण हुआ है।

इस 'झयः' का सम्बन्ध अगले "शश्छोऽटि" (पा. सू. 8.4.63) सूत्र में भी है, जिसका विवेचन अट् प्रत्याहार के प्रसङ्ग में पहले हो गया है।

1. शर्पूर्वाः खयः (8.3.61) तथा 2. पुमः खय्यम्परे (8.3.6.) इन दो सूत्रों में खय् प्रत्याहार का योग है। प्रथम सूत्र में "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" (पा. सू. 7.4.58) सूत्र से 'अभ्यास' तथा "हलादिः शेषः" (पा. सू. 7.4.60) सूत्र से 'शेष' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि- अभ्यास के शर् (श ष स) पूर्वक खय् (ख फ छ ठ थ च

ट त क प) को छोड़कर अन्य हल् वर्ण का लोप होता है। जैसा कि- श्च्युत, स्पर्ध धातु के लिट् लकार में 'चुश्च्योत, पस्पर्धे' आदि में श्च्युत के चु और स्पर्ध के प अवशिष्ट हैं तथा श्च्युत के 'श् य् त्' एवं स्पर्ध के 'स् र् ध्' का लोप हो गया है। अभ्यास के विषय में "हलादिः शेषः" इस सामान्य सूत्र का यह विशेष सूत्र है।

द्वितीय "पुमः खय्यम्परे" सूत्र का विवरण अम् प्रत्याहारघटित सूत्र के माध्यम से पहले ही दिया जा चुका है।

(घ) यर् झर् खर् चर् शर् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

श ष स र् (मा. सू. 13) इस सूत्र के र अनुबन्ध से यर्, झर्, खर्, चर्, शर्- ये पाँच प्रत्याहार बनते हैं जिनका विवरण क्रमशः प्रस्तुत है-

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (8.4.45) सूत्र में केवल यर् प्रत्याहार का उपयोग हुआ है। इसमें "न पदान्ताट्टोरनाम्" (पा. सू. 8.4.42) सूत्र से 'पदान्त' पद का अनुवर्तन होने से सूत्र का अर्थ होता है कि पदान्त यर् को अनुनासिक परे रहते विकल्प से अनुनासिक आदेश हो। जैसा कि 'एतन्मुरारिः-एतद्मुरारिः' में हुआ है।

इसके 'यर्' तथा 'वा' पद का सम्बन्ध "अचो रहाभ्यां द्वे" (पा. सू. 8.4.46) और "अनचि च" (पा. सू. 8.4.47) सूत्र में भी है। इनसे वैकल्पिक द्वित्व होता है।

झरो झरि सवर्णे (8.4.65) सूत्र में झर् प्रत्याहार का योग उद्देश्य तथा निमित्त-रूप में भी है। इसमें "झयो होऽन्यतरस्याम्"(पा. सू. 8.4.62) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' तथा "हलो यमां यमि लोपः" (पा. सू. 8.4.64) सूत्र से 'हलः' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- हल् के बाद झर् प्रत्याहार का विकल्प से लोप होता है, यदि सवर्ण झर् प्रत्याहार पर में हो तो। जैसा कि- 'कृष्णर्द्धिः' में गुण होने के बाद 'ध' को द्वित्व होने पर रेफ रूप हल् के बाद प्रथम ध-रूप झर् का लोप हुआ है द्वितीय ध-रूप झर् के परे। प्रायः इसमें दो धकार का ही प्रयोग होता है, क्योंकि यहाँ द्वित्व और लोप दोनों पाक्षिक हैं।

1. खरवसानयोर्विसर्जनीयः (8.3.15) तथा **2. खरि च (8.4.55)** इन दोनों सूत्रों में निमित्तरूप से खर् प्रत्याहार का योग है। प्रथम सूत्र में "रो रि" (पा. सू. 8.3.14) सूत्र से षष्ठ्यन्त 'रः' पद का अनुवर्तन होता है। अतः इस सूत्र से खर् प्रत्याहार को निमित्त मानकर तथा निमित्त के बिना भी पदान्त रेफ को विसर्ग होता है। जैसा कि-'कुम्भकारः खनति' में खकार-रूप खर् प्रत्याहार निमित्त है और 'रामः, कृष्णः' आदि में वर्ण का अभावरूप अवसान है, अतः इनमें विसर्ग सुनाई देता है।

इस खर् प्रत्याहार का अनुवर्तन आगे के "विसर्जनीयस्य सः" (पा. सू. 8.3.34) तथा "शर्परे विसर्जनीयः" (पा. सू. 8.3.35) सूत्र में भी होता है। प्रथम सूत्र से 'रामस्तिष्ठति' में विसर्ग को सकार और द्वितीय से शर्- परक खर् प्रत्याहार के परे विसर्ग अपने रूप में ही बना रहता है, सत्व या जिह्वामूलीय नहीं होता। अतः 'कः त्सरुः' और

'घनाघनः क्षोभणः' में विसर्ग का ही श्रवण होता है, सत्व और जिह्वामूलीय का नहीं।

खर् प्रत्याहार को निमित्त मानकर झल् को चर् करनेवाला "खरि च" सूत्र का तृतीय प्रभा में सोदाहरण परिचय हो चुका है।

1. न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु (1.1.58) तथा अभ्यासे चर्च (8.3.54) इन दो सूत्रों में चर् प्रत्याहार का योग है। प्रथम सूत्र से पदान्त, द्विर्वचन आदि विधियों में प्राप्त स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। चर्-विधि सम्बन्धी स्थानिवद्भाव का उदाहरण 'जक्षतुः' है। अद् धातु से लिट् लकार में घस् आदेश करने पर अतुस् प्रत्यय के सम्बन्ध से 'जक्षतुः' यह पद बनता है। इसमें द्वित्वादि अभ्यास कार्य के बाद 'जघस् अतुस्' की स्थिति में घस् के उपधा का लोप[1] होने पर "खरि च" से घकार को चर् ककार हुआ है। इस परनिमित्तक चर् विधि के कर्तव्य में उपधालोप के स्थानिवद्भाव का इस सूत्र से निषेध होता है। इसके बाद "शासिवसिघसीनां च" (पा. सू. 8.3.60) सूत्र से सकार को षत्व होकर 'जक्षतुः' पद बनता है, यही इस सूत्र के चर् प्रत्याहार का प्रयोजन है।

2. अभ्यासे चर्च (8.3.54) सूत्र में "झलां जश् झशि" (पा. सू. 8.4.53) सूत्र से उद्देश्य झल् और विधेय जश् प्रत्याहार पद का अनुवर्तन होता है। विधेय जश् के अनुवर्तन में 'चर्च' का चकार कारण है, क्योंकि चर् विधेय है, अतः विधेय के अनुवर्तन में चकार का सम्बन्ध है। सामान्यतः सूत्र का अर्थ है कि-अभ्यास में विद्यमान झल् को चर् और जश् होता है, किन्तु झल् को जश् और खय् को चर् हो ऐसी व्यवस्था है। जैसा कि- 'बभूव, चखाद' में क्रमशः झल् को जश् और खय् को चर् हुआ है।

इस चर् प्रत्याहार का सम्बन्ध आगे के "खरि च" (पा. सू. 8.4.55) तथा "वाऽवसाने" (पा. सू. 8.4.56) सूत्र में भी है। प्रथम से नित्य और द्वितीय से पाक्षिक चर्त्व होता है।

शर् प्रत्याहार का उपयोग निम्नलिखित छः सूत्रों में हुआ है-

सूत्र		उदाहरण
1. शपूर्वाः खयः	7.4.61	पस्पर्धे, तस्थौ
2. ङ्णोः कुक्टुक् शरि	8.3.28	प्राङ्क्शेते-प्राङ्शेते, सुगण्ट्षष्ठः
3. शर्परे विसर्जनीयः	8.3.35	कः त्सरुः, घनाघनः क्षोभणः
4. वा शरि	8.3.36	रामःशेते-रामश्शेते
5. नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि	8.3.58	सर्पींषि, सर्पिःषु, सर्पिष्षु
6. शरोऽचि	8.4.49	चतुर्षु

इनमें "शपूर्वाः खयः" सूत्र का विवेचन अभी पूर्व में किया गया है। दूसरे "ङ्णोः

1. उपधालोप-विधायक सूत्र-गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि। (पा. सू. 6.4.98)

कुक्टुक् शरि" सूत्र में "हे मपरे वा" सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र से शर् प्रत्याहार को निमित्त मानकर पदान्त ङकार-णकार को क्रमशः कुक्-टुक् का आगम विकल्प से होता है। यथा 'प्राङ्क्ष्ष्ठः-प्राङ्ष्ष्ठः, सुगण्ट्ष्ष्ठः-सुगण्ष्ष्ठः' में पाक्षिक क और ट का श्रवण होता है। पौष्करसादि आचार्य के मतानुसार तो यहाँ चय् (क-ट) को द्वितीय वर्ण ख-ठ भी हो जाता है। जिसका उल्लेख कात्यायन ने "चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्" वार्तिक के द्वारा किया है। अतः 'प्राङ्ख्ष्ष्ठः, सुगण्ठ्ष्ष्ठः' पद भी साधु हैं।

"शर्परे विसर्जनीयः" सूत्र से शर्परक खर् प्रत्याहार पर में हो तो विसर्ग को विसर्ग का विधान है, जिसका विवेचन खर् प्रत्याहार के प्रसङ्ग में हो चुका है।

"वा शरि" सूत्र से विसर्ग को विसर्ग का विधान वैकल्पिक है, जिसका विवेचन तृतीय प्रभा के प्रत्याहारात्मक सूत्रों में किया गया है।

"नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि" इस सूत्र में "इण्कोः" (पा. सू. 8.3.57) का अधिकार हैं। अतः इण् प्रत्याहार तथा कवर्ग के बाद नुम्, विसर्जनीय तथा शर् प्रत्याहारस्थ वर्ण के व्यवधान होने पर भी इस सूत्र से सकार को षकार होता है। सर्पींषि, यजूंषि, सर्पिःषु, यजुःषु तथा सर्पिष्षु, यजुष्षु आदि पद इसके उदाहरण हैं।

अच् को निमित्त मानकर शर् को द्वित्व का निषेध करनेवाला "शरोऽचि" (पा. सू. 8.4.49) सूत्र का विवरण भी तृतीय प्रभा में दिया जा चुका है।

इस प्रकार रेफ अनुबन्ध से बननेवाले यर्, झर्, खर्, चर् तथा शर् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्रों का विवेचन सम्पन्न हुआ।

(ङ) अल् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

ह ल् (मा. सू. 14) वर्णसमाम्नाय के चौदहवें हल् सूत्र के ल-अनुबन्ध से बननेवाले अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल्- ये छः प्रत्याहार हैं। जिनमें अल् प्रत्याहार का उल्लेख निम्नलिखित पाँच सूत्रों में हुआ है-

1.	अलोऽन्त्यस्य	1.1.52
2.	अनेकाल्शित् सर्वस्य	1.1.55
3.	स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ	1.1.56
4.	अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा	1.1.65
5.	अपृक्त एकाल् प्रत्ययः	1.2.42

1. अलोऽन्त्यस्य (1.1.52) यह परिभाषासूत्र है। परिभाषासूत्र व्यवस्थापक होते हैं। विधिशास्त्र की सन्दिग्ध प्रवृत्ति का निश्चय परिभाषा से ही होता है। इसीलिए "अनियमे नियमकारिणी भवति परिभाषा" यह वचन परिभाषा के विषय में प्रसिद्ध है। इससे षष्ठी-निर्दिष्ट कार्यों का निर्णय अन्त्य के रूप में होता है। जैसा कि- 'सु द् ध् य् उपास्यः' में "संयोगान्तस्य लोपः" (पा. सू. 8.2.23) सूत्र से प्राप्त संयुक्त 'द् ध् य्' के लोप का

निर्णय इस सूत्र से होता है, क्योंकि इस विधिसूत्र में इस परिभाषा सूत्र का सम्बन्ध होने से संयोगान्त पद के अन्त्य वर्ण का लोप होता है। जिससे यहाँ य का लोप प्राप्त हुआ, जिसका निषेध "यणः प्रतिषेधो वाच्यः" वार्तिक से किया जाता है।

इस अल् प्रत्याहार का सम्बन्ध अग्रिम "ङिच्च" (पा. सू. 1.1.53) और "आदेः परस्य" (पा. सू. 1.1.54) इन दो परिभाषासूत्रों में भी है।

2. **अनेकाल्शित् सर्वस्य (1.1.55)** यह विशेष परिभाषासूत्र है। इससे अनेक अल् (वर्ण) वाले आदेश और शकार अनुबन्ध वाले आदेशों का निर्णय होता है। जैसा कि- 'बभूव' में "अस्तेर्भूः" (पा. सू. 2.4.52) सूत्र से अस् धातु को 'भू' आदेश तथा 'सर्वे' में "जसः शी" (पा. सू. 7.1.17) सूत्र से जस् को 'शी' आदेश हुआ है। यहाँ भी "अलोऽन्त्यस्य" इस सामान्य सूत्र की प्राप्ति थी, किन्तु इस विशेष सूत्र से उसका बाध हो गया।

3. **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (1.1.56)** यह अतिदेश सूत्र है। अतिदेश से आदेश में स्थानी के धर्म का आरोप होता है। इस सूत्र में अल् प्रत्याहार पद नञ् समास से युक्त है, अतः इससे स्थानी के वर्णसम्बन्धी विधि के अतिरिक्त ही आदेश स्थानीधर्म को प्राप्त करता है। जैसा कि राम शब्द से चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में 'राम ङे' की स्थिति में ङे को "ङेर्यः" (पां. सू. 7.1.73) सूत्र से य आदेश होने पर 'ङे' के सुप्त्व धर्म का आदेश में अतिदेश हुआ, अतः "सुपि च" (पा. सू. 7.3.102) सूत्र से आदेश में स्थानी के अनलाश्रय सुप्त्व धर्म को मानकर दीर्घ होता है, जिससे 'रामाय' पद की सिद्धि होती है।

4. **अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (1.1.65)** यह संज्ञासूत्र है। परिभाषा सूत्र के समान संज्ञा सूत्र भी विधिसूत्र की प्रवृत्ति में सहायक होते हैं। अतः संज्ञा किसी न किसी प्रयोजन के लिए ही होती है, जैसा कि संज्ञा के विषय में कहा गया है- "या या संज्ञा सा सा फलवती।" इसीलिए "वर्णात्कारः" वार्तिक से विहित कार-प्रत्यय के ककार के कवर्ण की इत्संज्ञा नहीं होती, क्योंकि 'क' को इत्संज्ञा करने का कोई फल नहीं है।

इसमें 'अलः' यह पञ्चम्यन्त प्रत्याहार पद है। इससे धातु, प्रातिपदिक के अन्तिम अल् (वर्ण) से पूर्व वर्ण की उपधासंज्ञा होती है। जैसा कि- भिद्, बुध् धातु के इकार-उकार की उपधासंज्ञा होने से 'भेत्ता, बोद्धा' में "पुगन्तलघूपधस्य च" (पा. सू. 7.3.86) सूत्र से गुण तथा पच्, पठ् आदि के अकार को उपधा होने से 'पपाच, पपाठ' में "अतः उपधायाः" (पा. सू. 7.2.16) सूत्र से वृद्धि हुई है।

5. **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः (1.2.42)** यह भी संज्ञाविधायक सूत्र है। इससे एक अल् (वर्ण) वाले प्रत्यय की अपृक्त संज्ञा होती है। इसका फल है 'घृतस्पृश्' शब्द से विहत क्विन् प्रत्यय के वकार का "वेरपृक्तस्य"(6.1.67) सूत्र से लोप। क्विन् प्रत्यय में ककार-नकार इत्संज्ञक हैं और इकार उच्चारणार्थक है, अतः वकार एक अल् होने से अपृक्तसंज्ञक है, जिसका लोप होता है।

(च) हल् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

ल-अनुबन्ध से बननेवाले हल् प्रत्याहार का उल्लेख निम्नलिखित चालीस सूत्रों में है-

	सूत्र		उदाहरण
1.	हलोऽनन्तराः संयोगः	1.1.7	संयोगसंज्ञा
2.	नाज्झलौ	1.1.10	दधि हरति
3.	हलंताच्च	1.2.10	बिभित्सति
4.	रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च	1.2.26	द्युतित्वा-द्योतित्वा
5.	हलन्त्यम्	1.3.3	इत्संज्ञा
6.	भृशादिभ्यो भुव्यच्वे र्लोपश्च हलः	3.1.12	भृशायते, शीघ्रायते
7.	धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्	3.1.22	पापच्यते, देदीप्यते
8.	हलः श्नः शानज्झौ	3.1.83	गृहाण, मुषाण
9.	ऋहलोर्ण्यत्	3.1.124	कार्यम्, हार्यम्
10.	अनुदात्तेतश्च हलादेः	3.2.149	वर्तनः, वर्धनः
11.	गुरोश्च हलः	3.3.103	ईहा, ऊहा
12.	हलश्च	3.3.121	लेखः, वेदः, मार्गः
13.	हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्	6.1.68	राजा, कुमारी, रमा
14.	एतत्तदोः सुलोपोऽको-रनञ्समासे हलि	6.1.132	एष विष्णुः, स शम्भुः
15.	उदात्तयणो हल्पूर्वात्	6.1.174	कर्त्री, कर्त्रा
16.	षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः	6.1.179	षड्भिः, त्रिभिः, चतुर्भ्यः
17.	हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्	6.3.8	युधिष्ठिरः, त्वचिसारः
18.	कारनाम्नि च प्राचां हलादौ	6.3.9.	मुकुटेकार्षापणम्, दृषदिमाषैकः
19.	एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्	6.3.59	उदकुम्भः,उदककुम्भः
20.	हलः	6.4.2	हूतः, जीनः
21.	अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति	6.4.24	स्रस्तः, ध्वस्तः
22.	शास इदङ्हलोः	6.4.34	शिष्टः, शिष्मः
23.	यस्य हलः	6.4.49	बेभिदिता, बेभिदितुम्
24.	घुमास्थागापाजहातिसां हलि	6.4.66	दीयते, धीयते
25.	घसिभसोर्हलि च	6.4.100	सग्धिश्च मे, बब्धां ते हरी धानाः
26.	ई हल्यघोः	6.4.113	लुनीतः, मिमीते
27.	अत एकहल्मध्येऽनादेशादे र्लिटि	6.4.120	नेदतुः, नेदुः
28.	हलस्तद्धितस्य	6.4.150	गार्गी, वात्सी

सूत्र		उदाहरण
29. र ऋतो हलादेर्लघोः	6.4.161	प्रथिष्ठः, प्रथीयान्, प्रथिमा
30. वदव्रजहलन्तस्याचः	7.2.3	अपाक्षीत्
31. अतो हलादेर्लघोः	7.2.7	अगादीत्-अगदीत्
32. रायो हलि	7.2.85	राभ्याम्, राभिः
33. हलि लोपः	7.2.113	आभ्याम्, एभिः
34. उतो वृद्धिर्लुकि हलि	7.3.89	यौति, यौषि
35. हलादिः शेषः	7.4.60	जग्लौ, पपाच
36. तस्मान्नुड् द्विहलः	7.4.71	आनर्च, आनङ्ग
37. हलि च	8.2.77	विशीर्णम्, दीव्यति
38. हलि सर्वेषाम्	8.3.22	भो देवाः, भो लक्ष्मि
39. हलश्चेजुपधात्	8.4.31	प्रकोपणम्-प्रकोपनम्
40 हलो यमां यमि लोपः	8.4.63	शय्या-शय्य्या

इनमें "नाज्झलौ, हलन्ताच्च, धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्, हलश्च, उदात्तयणो हल्पूर्वात्, हलः, वदव्रजहलन्तस्याचः, हलि च, हलश्चेजुपधात् एवं हलो यमां यमि लोपः" इन दस सूत्रों का सोदाहरण परिचय पूर्व में दे दिया गया है, अवशिष्ट तीस सूत्रों का विवरण इस प्रकार है-

1. हलोऽनन्तराः संयोगः (1.1.7) सूत्र में 'हलः' प्रत्याहार पद प्रथमा-बहुवचन का है। इस सूत्र से व्यवधानरहित हल् (व्यञ्जन) समुदाय की संयोगसंज्ञा होती है। व्यवधान विजातीय से होता है, अतः अच् (स्वर) वर्ण जिसके बीच में न हो तो ऐसे दो या बहुत से व्यञ्जनों को संयोग कहते हैं। जैसा कि 'अग्निः' पद में 'गन' दो वर्ण और 'इन्द्रः' पद में 'न-द-र' तीन वर्ण संयोगसंज्ञक हैं।

2. रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (1.2.26) इसमें "न क्त्वा सेट्" (पा. सू. 1.2.18) से 'सेट्' पद की तथा "उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्" (पा. सू. 1.2.21) से 'अन्यतरस्याम्' और "पूङः क्त्वा च" (पा. सू. 1.2.22) सूत्र से 'क्त्वा' पद की अनुवृत्ति होती है, जिससे सूत्र का अर्थ होता है कि उकारोपध तथा इकारोपध रलन्त हलादि धातु से विहित इडागमविशिष्ट सन् और क्त्वा प्रत्यय विकल्प से कित् हों। जिसका फल है- 'दिद्युतिषते, द्युतित्वा' आदि में "क्ङिति च" (पा. सू. 1.1.5) सूत्र से गुण का निषेध। वैकल्पिक कित् होने के कारण 'दिद्योतिषते, द्योतित्वा' में गुण हुआ है।

3. हलन्त्यम् (1.3.3) इसमें "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" (पा. सू. 1.3.2) सूत्र से 'उपदेश' तथा 'इत्' पद का अनुवर्तन होता है। अतः इससे उपदेश अवस्था में विद्यमान धातु, प्रत्यय आदि के अन्त्य हल् की इत्संज्ञा होती है। जैसा कि 'शीङ्' धातु का ङकार,

'तिप्-सुप्' प्रत्यय का पकार एवम् 'अ इ उ ण्, ऋ ऌ क्' आदि वर्णसमाम्नाय के सभी अनुबन्ध इत्संज्ञक होते हैं। 'इत्' यह संज्ञा अन्वर्थक है- एति गच्छतीति इत्। इण् धातु से क्विप् प्रत्यय होने पर तुक् आगम होकर 'इत्' पद बनता है, जिसका अर्थ है- गमनशील। अनुबन्ध गमनशील होते हैं, अतः "तस्य लोपः" (पा. सू. 1.3.9) सूत्र से इत्संज्ञक वर्णों के लोप का विधान है। पाणिनीय व्याकरणदर्शन के अनुसार 'लोप' वर्णों के अभाव का बोधक नहीं है, बल्कि उनका अदर्शन ही 'लोप' है, जैसा कि महर्षि पाणिनि ने स्पष्ट कहा है- "अदर्शनं लोपः" (पा. सू. 1.1.60)। इसलिए इत्संज्ञक वर्ण केवल पदप्रयोग में उपयुक्त नहीं होते, किन्तु उनकी सत्ता तो उपदेश में रहती ही है।

4. भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः (3.1.12) इसमें "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" (पा. सू. 3.1.11) सूत्र से क्यङ् प्रत्यय का अनुवर्तन होता है। अतः इसका अर्थ है कि- च्वि-प्रत्ययान्त भृश, शीघ्र, मन्द आदि शब्दों से होना अर्थ में क्यङ् प्रत्यय और हलन्त शब्द के हल् का लोप भी हो। जैसा कि-'अभृशो भृशो भवति' इस अर्थ के लिए 'भृशायते' में क्यङ् तथा सुमनस्, दुर्मनस् आदि हलन्त शब्दों से बननेवाले 'सुमनायते, दुर्मनायते' में सकार का लोप भी हुआ है।

5. हलः श्नः शानज्झौ (3.1.83) सिप् प्रत्यय के स्थान में "सेर्ह्यपिच्च" (पा. सू. 3.4.87) सूत्र से विधीयमान 'हि' पर में हो तो इस सूत्र से हल् वर्ण के बाद श्ना-प्रत्यय को शानच् आदेश होता है। ग्रह, मुष धातु के 'गृहाण, मुषाण' पद इसके उदाहरण हैं। सूत्र में 'हलः' यह पञ्चम्यन्त पद है।

6. ऋहलोर्ण्यत् (3.1.124) इससे ऋवर्णान्त तथा हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है। अतः ऋवर्णान्त कृ, हृ तथा हलन्त वच्, पच् धातु से ण्यत् होने पर वृद्धि होकर 'कार्यम्, हार्यम्, वाक्यम्, पाक्यम् आदि पद सिद्ध होते हैं।

7. अनुदात्तेतश्च हलादेः (3.2.149) इसमें "चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच्" (पा.. सू. 3.2.148) सूत्र के 'अकर्मकाद्युच्' अंश का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- हलादि अकर्मक अनुदात्तेत धातु से तच्छील आदि अर्थों में युच् प्रत्यय होता है। जैसा कि-'वर्तनः, वर्धनः' में वृत-वृध धातु से युच् प्रत्यय हुआ, जिसे "युवोरनाकौ" (पा. सू. 7.1.1) सूत्र से अन आदेश हो गया है।

8. गुरोश्च हलः (3.3.103) इसमें "स्त्रियां क्तिन्" (पा. सू. 3.3.94) से 'स्त्रियाम्' पद तथा "अ प्रत्ययात्" (पा. सू. 3.3.102) सूत्र से 'अ' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में हलन्त गुरुमान् धातु से अ-प्रत्यय होता है। यथा गुरुसंज्ञक हलन्त ईह्, ऊह्, कुण्ड् आदि धातु से अ-प्रत्यय होने पर टाप् होकर ईहा, ऊहा, कुण्डा आदि पद निष्पन्न होते हैं।

9. हलृङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (6.1.68) इस सूत्र में "लोपो व्योर्वलि" (पा. सू. 6.1.66) से 'लोप' पद का अनुवर्तन होता है। अतः इस सूत्र से हलन्त तथा दीर्घ ङ्यन्त-आबन्त शब्द के बाद सु, ति, सि के अपृक्तसंज्ञक हल्-वर्ण स्-त्-स् का लोप होता है। क्रमशः- राजा, अविभर्भवान् तथा अभिनोऽत्र इसके उदाहरण हैं।

10. एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि (6.1.132) सूत्र से हल् वर्ण के परे ककाररहित एतद् और तद्-रूप प्रातिपदिक के सु-प्रत्यय का लोप होता है, किन्तु एतद्-तद् शब्द नञ् के साथ समस्त न हो तो। जैसा कि 'एष विष्णुः, स शम्भुः' आदि में सु का लोप हुआ है।

इस 'हलि' पद का सम्बन्ध आगे "स्यश्छन्दसि बहुलम्" (पा. सू. 6.1.133) सूत्र में भी है। जिससे हल् के परे वेदविषयक प्रयोग में त्यत् शब्द से विहित सु-प्रत्यय का लोप होता है। जैसा कि 'एष स्य भानुः' में स्य के सु-प्रत्यय का लोप हुआ और 'यत्र स्यो निपतेत्' में नहीं हुआ। वैदिक शब्दों की साधन-प्रक्रिया में विशेष छूट है, इस बात का समर्थन पाणिनि के वैदिक सूत्रों में प्रयुक्त 'बहुल' पद से होता है।

11. षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः (6.1.179) इसमें "कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः" (पा. सू. 6.1.159) सूत्र से 'उदात्त' तथा "सावेकाचस्तृतीयादिविभक्तिः" (पा. सू. 6.1.167) से 'विभक्ति' पद का अनुवर्तन है। अतः इस सूत्र से षट्संज्ञक शब्द तथा त्रि-चतुर् शब्द के बाद हलादि विभक्तिं को उदात्त होता है। जैसा कि- षट्संज्ञक- पञ्चभिः, षड्भिः में भिस् विभक्ति तथा त्रिभिः, त्रिभ्यः, चतुर्भिः चतुर्भ्यः आदि में भिस् भ्यस् विभक्तियाँ उदात्त हैं।

12. हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् (6.3.8) इसमें "अलुगुत्तरपदे" (पा. सू. 6.3.1) सूत्र का सम्बन्ध है, अतः शब्द से विहित सप्तमी विभक्ति का अलुक् अर्थात् लोप नहीं होता है पद परे रहते । युधिष्ठिरः, त्वचिसारः[1], अरण्येतिलकाः आदि इसके उदाहरण हैं। "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" (2.4.71) सूत्र से यहाँ विभक्ति का लुक् प्राप्त था, जिसका निरोध इस सूत्र से हुआ है।

13. कारनाम्नि च प्राचां हलादौ (6.3.9) इसमें पूर्वोक्त सूत्र का सम्बन्ध है। इसका अर्थ है कि- जिस समस्त शब्द से प्राग्देशीय कार[2] अर्थात् वणिक् आदि के द्वारा राजा को देय धन का बोध हो और उत्तर पद हलादि हो तो सप्तमी का अलुक् होता है। इसमें हल् प्रत्याहार का उपयोग पूर्व-पर निमित्तरूप में हुआ है। दृषदिमाषैकः[3], सूपेकाणः,

---

1. जिसकी त्वचा दृढ़ हो, बाँस।
2. वणिग्भिः पशुपालकैः कर्षकैश्च राज्ञे देयं धनं करः, स एव कारः "प्रज्ञादित्वादण्" पाणिनि-कालीन भारतवर्ष, पृ0 140
3. प्राच्य भारत में प्रति चक्की पर लगने वाला एक कर।

हलेद्विपदिका आदि इसके उदाहरण हैं।

14. एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् (6.3.59) इस सूत्र में "उदकस्योदः संज्ञायाम्" (पा. सू. 6.3.57) इस सूत्र से 'उदकस्योदः' इस अंश का अनुवर्तन होने से सूत्र का अर्थ है कि- एक हल् वर्ण हो आदि में जिसके ऐसे पूरणार्थक शब्द उत्तर पद में हो तो पूर्व पद के उदक शब्द को विकल्प से 'उद' आदेश हो जाता है। जैसा कि- उदककुम्भः, उदकुम्भः, उदकपात्रम्, उदपात्रम् में उदक को पाक्षिक उद आदेश हुआ है।

15. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (6.4.24) इसमें "श्नान्नलोपः" (पा. सू. 6.4.23) सूत्र से 'नलोपः' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र का अर्थ है कि- जिसमें इकार की इत्संज्ञा न हुई हो ऐसे हलन्त धातु के उपधा नकार का लोप होता है कित्-ङित् प्रत्यय के परे। जैसा कि हलन्त स्रंस्, ध्वंस् धातु से क्त प्रत्यय करने पर नकार का लोप होकर स्रस्तः, ध्वस्तः आदि प्रयोग बनते हैं।

16. शास इदङ्हलोः (6.4.34) इस सूत्र से अङ् तथा हलादि कित्-ङित् प्रत्यय के परे 'शास्' धातु के उपधा-आकार को इकार आदेश होता है। यथा अङि-अन्वशिषत्, क्यपि-शिष्यः तथा तसि-ङिति- तौ शिष्टः- ये निमित्त के क्रमानुसार उदाहरण हैं।

17. यस्य हलः (6.4.49) यह सूत्र "आर्धधातुके" (पा. सू. 6.4.46) के अधिकार में है। इसमें "अतो लोपः" (पा. सू. 6.4.48) सूत्र से 'लोप' पद का भी अनुवर्तन होता है। अतः इससे आर्धधातुक प्रत्यय के परे हल् प्रत्याहार के बाद यकार का लोप होता है। जैसा कि-यङन्त बेभिद्य-धातु से लुट् लकार एवं तुमुन् प्रत्यय के परे यकार का लोप होने से बेभिदिता, बेभिदितुम् पद बनते हैं।

इस सूत्र के हल् प्रत्याहार का सम्बन्ध अगले "क्यस्य विभाषा" (पा. सू. 6.4.50) सूत्र में भी है। इसके द्वारा हल् के बाद क्यङ्-क्यच् प्रत्यय के यकार का विकल्प से लोप होता है। जैसा कि- 'समिध्यिता-समिधिता' में य का लोप पाक्षिक है। 'समिधमात्मन एषिता, समिध इव आचरिता' अर्थ के लिए क्रमशः इसमें क्यच् और क्यङ् प्रत्यय हुए हैं।

18. घुमास्थागापाजहातिसां हलि (6.4.66) इसमें "ईद्यति" (पा. सू. 6.4.65) सूत्र से 'ईत्' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि हलादि कित्-ङित् प्रत्यय के परे घुसंज्ञक, मा, स्था, गा, पा, हा तथा सा धातु को ईकार होता है। जैसा कि- दीयते, धीयते, मीयते, स्थीयते, गीयते, पीयते, हीयते, अवसीयते आदि में ईत्व हुआ है।

19. घसिभसो र्हलि च (6.4.100) इसमें "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (पा. सू. 6.4.77) से 'अचि' "ऊदुपधाया गोहः" (पा. सू. 6.4.89) सूत्र से 'उपधा' "गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि" (पा. सू. 6.4.98) सूत्र से 'लोपः' तथा

"तनिपत्योश्छन्दसि" (पा. सू. 6.4.99) से 'छन्दसि' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- हलादि तथा अजादि कित्-ङित् प्रत्यय के परे घस्-भस् धातु के उपधा का लोप होता है वैदिक पद में। जैसा कि- अद् धातु से क्तिन् प्रत्यय में "बहुलं छन्दसि" से घस्लृ आदेश होने पर "गमहनजन" सूत्र से उपधालोप, "झलो झलि" से सकारलोप "झषस्तथोर्धोऽधः" (पा. सू. 8.2.40) से तकार को धकार पुनः घकार को जश्त्व गकार होकर 'ग्धिः' पद बनता है। इसके बाद 'समाना ग्धिः सग्धिः' इस समास में समान को सभाव होने पर 'सग्धिश्च मे' यह वैदिक पद सिद्ध हुआ।

20. ई हल्यघोः (6.4.113) इसमें "अत उत्सार्वधातुके" (पा. सू. 6.4.110) से 'सार्वधातुके' पद तथा "श्नाभ्यस्तयोरातः" (पा. सू. 6.4.112) इस सूत्र की अनुवृत्ति होती है। अतः इससे हलादि कित्-ङित् सार्वधातुक प्रत्यय के परे श्ना-प्रत्ययान्त तथा घुसंज्ञकभिन्न अभ्यास्त संज्ञक धातु के आकार को ईकार आदेश होता है। पुनीतः, मिमीते, संजिहीते आदि पद इसके उदाहरण हैं।

इस 'हलि' प्रत्याहार पद का सम्बन्ध "इद्दरिद्रस्य" (पा. सू. 6.4.114) "भियोऽन्यतरस्याम्" (पा. सू. 6.4.115) तथा "जहातेश्च" (पा. सू. 6.4.116) इन तीन सूत्रों में भी है। अतः हल् को निमित्त मानकर प्रथम से 'दरिद्रितः' में आ को अनिवार्य इत्व और द्वितीय एवं तृतीय से 'बिभितः बिभीतः' में तथा 'जहितः- जहीतः' में वैकल्पिक इत्व विधि हुई है।

21. अत एकहल्मध्येऽनादेशादे र्लिटि (6.4.120) इस सूत्र में "गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि" (पा. सू. 6.4.98) से 'क्ङिति' पद तथा "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" (पा. सू. 6.4.119) सूत्र से 'एत्' और 'अभ्यासलोपः' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र से लिट् को निमित्त मानकर जिस धातु को कोई आदेश न हुआ हो, ऐसे धातु के असंयुक्त हल् के मध्य में विद्यमान अकार को एकार आदेश तथा अभ्यास का लोप होता है कित्-ङित् लिट् परे रहते। नेदतुः, नेदुः, पेचतुः, पेचुः आदि इसके उदाहरण हैं।

इस हल् प्रत्याहार का सम्बन्ध "थलि च सेटि" (पा. सू. 6.4.121) सूत्र में भी है। जिससे 'पेचिथ' में एत्व और अभ्यासलोप हुआ है। सिप् के स्थान में हुआ थल् आदेश कित् संज्ञक नहीं है, अतः पूर्व सूत्र से प्राप्त न होने के कारण यह सूत्र प्रवृत्त हुआ।

22. हलस्तद्धितस्य (6.4.150) इस सूत्र में "ढे लोपोऽकद्र्वाः" (पा. सू. 6.4.47) से 'लोपः' "यस्येति च" से 'ईति' तथा "सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः" (पा. सू. 6.4.149) सूत्र के 'य उपधायाः' इस अंश का अनुवर्तन होता है। अतः इससे ईकार पर में हो तो हल् वर्ण के बाद तद्धित प्रत्यय के उपधास्थानीय यकार का लोप होता है। जैसा कि-'गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री' इस अर्थ में "गर्गादिभ्यो यञ्" (पा. सू4.1.105) से यञ् प्रत्यय होने पर आदिवृद्धि, गकारोत्तरवर्ती अकारलोप के बाद "यञश्च (पा. सू. 4.1.16) सूत्र से ङीप् हुआ, पुनः यकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होने के बाद इस सूत्र

से य का लोप होता है, जिससे गार्गी, वात्सी आदि पद निष्पन्न होते हैं।

इस सूत्र के 'हलः' पद का सम्बन्ध आगे के "आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" (पा. सू. 6.4.11) तथा "क्यच्व्योश्च" (पा. सू. 6.4.52) इन दो सूत्रों में भी है। 'गार्ग्यस्य छात्रा' इस अर्थ में छ-प्रत्यय को ईय होने पर प्रथम सूत्र से यकार लोप होकर 'गार्गीयाः' पद बनता है तथा द्वितीय से क्यच्वि-प्रत्यय के परे 'गार्गीयति, गार्गीभूतः' में यकार का लोप हुआ है।

23. र ऋतो हलादेर्लघोः (6.4.161) इसमें "तुरिष्ठेमेयस्सु" (पा. सू. 6.4.154) सूत्र से 'इष्ठेमेयस्सु' इस अंश का अनुवर्तन है। अतः इस सूत्र से इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् प्रत्यय के परे हलादि लघुसंज्ञक ऋकार को र आदेश होता है। जैसा कि-पृथु, मृदु शब्द से इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय होने पर ऋ को र आदेश होकर प्रथिष्ठः, प्रथिमा, प्रथीयान्, म्रदिष्ठः, म्रदिमा, म्रदीयान्-ये पद निष्पन्न होते हैं।

24. अतो हलादेर्लघोः (7.2.7) इसमें "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" (पा.सू. 7.2.1) सूत्र से 'वृद्धिः' "ऊर्णोतेर्विभाषा"(पा. सू. 7.3.90) सूत्र से 'विभाषा' तथा "नेटि" (पा. सू. 7.2.4) से 'न' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि परस्मैपद इडादि सिच् के परे हलादि लघुसंज्ञक अकार को वृद्धि का निषेध पाक्षिक हो। जैसा कि-'अगदीत्-अगादीत्, अकणीत्-अकाणीत्' में वृद्धि का निषेध वैकल्पिक हुआ है।

25. रायो हलि (7.2.85) इसमें "अष्टन आ विभक्तौ" (पा. सू. 6.2.84) के विधेय 'आ' पद का अनुवर्तन है। अतः हलादि सुप् विभक्ति के परे 'रै' शब्द के ऐकार के स्थान में भी आकार आदेश हो जाता है। राः, राभ्याम्, राभिः आदि हलादि विभक्ति वाले पद इसके उदाहरण हैं।

26. हलि लोपः (7.2.113) इसमें "इदोऽय् पुंसि" (पा. सू. 6.2.111) से 'इदः' इस षष्ठ्यन्त पद का तथा "अनाप्यकः" (पा. सू. 7.2.112) से 'आपि' और 'अकः' पद का अनुवर्तन होने से सूत्र का अर्थ है कि हलादि आप् विभक्ति के परे ककाररहित इदम् शब्द के 'इद्' भाग का लोप होता है। जिससे 'आभ्याम्, एभिः' आदि पद सिद्ध होते हैं। 'आप्' यह प्रत्याहार पद है जो तृतीया विभक्ति के टा से आरम्भ कर सुप् के पकार तक का बोधक है।

27. उतो वृद्धि र्लुकि हलि (7.3.89) इसमें "नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके" (पा. सू. 7.3.87) के 'पिति सार्वधातुके' इस अंश का सम्बन्ध है। अतः इस सूत्र से हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय के परे लुक् के विषय में उकारान्त धातु को वृद्धि होती है। जैसा कि-अदादिगण के यु, णु, स्तु, आदि धातुओं से विहित शप् का लुक् होने पर यौति, नौति, स्तौति आदि पदों में हलादि पित् सार्वधातुक तिप् को मानकर वृद्धि हुई है।

इस 'हलि' का सम्बन्ध "ऊर्णोतेर्विभाषा" (पा. सू. 7.3.90) "गुणोऽपृक्ते" (पा. सू. 7.3.91) "तृणह इम्" (पा. सू. 7.3.92) "ब्रुव ईट्" (पा. सू. 7.3.93) "यङो वा" (पा. सू. 7.3.94) तथा "तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके" (पा. सू. 7.3.95) इन छः सूत्रों में भी है। इनमें प्रथम सूत्र से "ऊर्णौति-ऊर्णोति" में पाक्षिक वृद्धि, द्वितीय से "और्णोत्-और्णोः" में गुण, तृतीय से 'तृणेढि' में इमागम, चतुर्थ से 'ब्रवीति' में ईडागम, पञ्चम से 'बोभवीति-बोभोति' में वैकल्पिक ईट तथा छठे सूत्र से 'तवीति-तौति, रवीति-रौति, स्तवीति-स्तौति, आदि पदों में पाक्षिक ईट् होता है।

28. हलादिः शेषः (7.4.60) इसमें "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" (पा. सू. 7.4.58) सूत्र से 'अभ्यास' और 'लोप' पद का अनुवर्तन होता है। अतः इस सूत्र से अभ्याससंज्ञक पूर्व अंश के आदि हल् वाले वर्ण को छोड़कर अन्य हल् वर्ण का लोप होता है। जैसा कि- पच् धातु से लिट् में पच्-पच् द्वित्व होने पर अभ्यास के प-वर्ण को छोड़कर च-वर्ण के लोप होने से 'पपाच' पद निष्पन्न हुआ।

29. तस्मान्नुड् द्विहलः (7.4.71) इस सूत्र में पूर्वोक्त 'अभ्यास' पद का तथा "दीर्घ इणः किति" (पा. सू. 7.4.69) के दीर्घ पद एवम् "अत आदेः" (पा. सू. 7.4.70) के 'अत' पद का सम्बन्ध है, जिसका परामर्शक इस सूत्र का 'तस्मात्' पद है। अतः सूत्र का अर्थ है कि- दो हल्वर्णवाले धातु सम्बन्धी दीर्घीभूत अभ्यास अकार के बाद नुट्का आगम होता है। जैसा कि- अङ्ग्, अञ्ज आदि धातु के लिट् लकार में नुट् होकर क्रमशः आनर्च, आनङ्ग, आनञ्ज आदि पद सिद्ध होते हैं।

30. हलि सर्वेषाम् (8.3.22) इसमें "लोपः शाकल्यस्य" (पा. सू.8.3.19) के 'लोप' तथा "भोभगो अघो अपूर्वस्य योऽशि" (पा. सू 8.3.17) सूत्र का सम्बन्ध केवल 'अशि' इस पद को छोड़कर है, क्योंकि इस सूत्र के विधि में हल् निमित्त है। अतः हल् प्रत्याहार को निमित्त मानकर सभी आचार्यों के मत से भो, भगो, अघो तथा अवर्ण के बाद पदान्त यकार का लोप इस सूत्र से होता है। जिससे-भो हसति, अघो हसति, भो याति, अघो याति, वृक्षा हसन्ति आदि में य का लोप सर्वसम्मत है।

इस 'हलिं' पद का अनुवर्तन "मोऽनुस्वारः" (पा. सू. 8.3.23) सूत्र में भी है, जिससे मान्त पद को हल् परे 'हरिं वन्दे' में अनुस्वार हुआ है।

ल- अनुबन्ध से बननेवाले वल् प्रत्याहारघटित दो सूत्र हैं-

1. लोपो व्योर्वलि (6.1.66)
2. आर्धधातुकस्येड्वलादेः (7.2.35)

प्रथम सूत्र से वल् प्रत्याहार को निमित्त मानकर वकार-यकार का लोप होता है। जैसा कि- दिव् धातु से लिट् में "क्वसुश्च" (पा. सू. 3.2.107) सूत्र से क्वसुप्रत्यय होने पर 'दिदिवान्, दिदिवांसः, में वकार का लोप और 'गौधेरः' में यकार का लोप हुआ

है। गोधा पद से "गोधाया ढ्रक्" (पा. सू. 4.1.29) सूत्र से विहित ढ्रक् प्रत्यय के ढ को एय् आदेश होता है। जिसके यकार का लोप वल् प्रत्याहार के परे हुआ है।

द्वितीय सूत्र से वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम होता है। जैसा कि-बभूविथ, भविता, भविष्यति आदि में थ, ता, स्य को वलादि मानकर इट् का आगम हुआ ।

इस वलादि पद का सम्बन्ध "स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते" (पा. सू. 7.2.36) इस नियम सूत्र में भी है। सूत्र का अर्थ है कि-स्नु और क्रम धातु यदि आत्मनेपद के निमित्त न हो तो वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम हो। अतः प्रस्नविता, प्रस्नवितुम्, प्रक्रमिता, प्रक्रमितुम् में ही इट् हुआ और 'प्रस्नोष्यते, प्रस्नोषीष्ट, प्रक्रंस्यते, प्रक्रंसीष्ट, आदि भाव-कर्मस्थ प्रयोगों में नहीं हुआ।

वल् प्रत्याहार के बाद रल् प्रत्याहार है, जिसका उपयोग केवल "रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च" (1.2.26) इस सूत्र में है। इसमें हल् प्रत्याहार का भी योग है, अतः हल् प्रत्याहारघटित सूत्रों के प्रसङ्ग में इसका विवेचन हो चुका है।

(छ) झल् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

ल-अनुबन्ध से बननेवाला पाँचवाँ झल् प्रत्याहार का उपयोग निम्नलिखित पन्द्रह सूत्रों में हुआ है-

	सूत्र		उदाहरण
1.	इको झल्	1.2.9	चिचीषति, तुष्टूषति
2.	सृजिदृशोर्झल्यमकिति	6.1.58	स्रष्टुम्, द्रष्टुम्
3.	झल्युपोत्तमम्	6.1.174	पञ्चभिस्तपस्तपति
4.	दिवो झल्	6.1.177	द्युभ्याम्, द्युभिः
5.	अनुनासिकस्य क्विझलोः	6.4.15	प्रशान्, शान्तः
6.	अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति	6.4.37	यत्वा, वतिः, ततवान्
7.	जनसनखनां सञ्झलोः	6.4.42	जातः, सिषासति, खातः
8.	हुझल्भ्यो हेर्धिः	6.4.101	जुहुधि, भिन्धि
9.	मस्जिनशोर्झलि	7.1.60	मङ्क्त्वा, नंष्टा
10.	नपुंसकस्य झलचः	7.1.72	यशांसि, पयांसि, वनानि
11.	बहुवचने झल्येत्	7.3.103	रामेभ्यः, सर्वेषाम्, सर्वेषु
12.	झलो झलि	8.2.26	अगौप्ताम्, अवात्ताम्
13.	झलां जशोऽन्ते	8.2.39	वागीशः, अग्निचिदत्र
14.	नश्चापदान्तस्य झलि	8.3.24	यशांसि, आक्रंस्यते
15.	झलां जश् झशि	8.4.53	लब्धा, दोग्धा, बोद्धा

इनमें "इको झल्, नपुंसकस्य झलचः, झलो झलि, झलां जशोऽन्ते तथा झलांजश् झशि"- इन पाँच सूत्रों का विश्लेषण पूर्व प्रभा में हो गया है। शेष दस सूत्रों का विवरण इस प्रकार हैः-

1. सृजिदृशोर्झल्यमकिति (6.1.58) इस सूत्र से सृज् और दृश् धातु को कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय के परे अम् का आगम होता है। जैसा कि-स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम् तथा द्रष्टुम्, द्रष्टव्यम् में सृज् और दृश् धातु सम्बन्धी अन्तिम अच् के बाद अम् का आगम होने से अच् पर में 'ऋ' को र् यण् हुआ है।

इस झल् प्रत्याहार का सम्बन्ध आगे के "अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्" (पा. सू. 6.1.59) सूत्र में भी है, जिससे उपदेश में अनुदात्त ऋदुपधक धातु को कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे विकल्प से अम् का आगम होता है। जैसा कि तृप् से 'त्रप्ता-तर्पिता' तथा दृप् से 'द्रप्ता-दर्पिता' में हुआ है। इट् आगम भी यहाँ "रधादिभ्यश्च" (पा. सू. 7.2.45) से वैकल्पिक है, अतः तर्प्ता, एवं दर्प्ता पद भी साधु हैं।

2. झल्युपोत्तमम् (6.1.174) इसमें "षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः" (पा. सू. 6.1.73) सूत्र से 'षट्त्रिचतुर्भ्यः' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि-षट्संज्ञक तथा त्रि, चतुर् शब्द के बाद झलादि विभक्ति हो अन्त में जिनके ऐसे पदों के समीप वाले वर्ण को उदात्त होता है। यथा -"पञ्चभिस्तपस्तपति, सप्तभिः परान् जयति" में भिस् विभक्ति के पूर्व अच् को उदात्त हुआ।

इस 'झलि' प्रत्याहार का सम्बन्ध "विभाषा भाषायाम्" (पा. सू. 6.1.175) सूत्र में भी है। इससे भी पूर्वोक्त पदों के लौकिक प्रयोग में विकल्प से उपोत्तम उदात्त स्वर होता है। पञ्चभिः, सप्तभिः, तिसृभिः, चतसृभिः आदि इसके उदाहरण हैं।

3. दिवो झल् (6.1.177) इसमें "न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः" (पा. सू. 6.1.176) सूत्र से 'न' पद का अनुवर्तन होने के कारण दिव् शब्द के बाद झलादि विभक्ति के उदात्त का निषेध होता है। 'द्युभ्याम्, द्युभिः' में भ्याम्, भिस् को "सावेकाचस्तृतीयादि-र्विभक्तिः"(पा. सू. 6.1.168) सूत्र से प्राप्त उदात्त का निषेध होता है।

इस झल् प्रत्याहार तथा पूर्व सूत्रानुवर्तित नकार का सम्बन्ध "नृ चान्यतरस्याम्" (पा. सू. 6.1.178) सूत्र में भी है। जिससे-नृ शब्द के बाद झलादि विभक्ति को वैकल्पिक उदात्त का निषेध होता है। नृभ्याम्, नृभिः, नृभ्यः आदि के भ्याम्, भिस्, भ्यस् विभक्ति ऐच्छिक उदात्त हैं।

4. अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति" (6.4.15) इस सूत्र में तृतीय पाद के "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (पा. सू. 6.3.111) सूत्र के 'दीर्घ' पद का और "नोपधायाः" (पा. सू. 6.4.7.)सूत्र के 'उपधा' पद का अनुवर्तन होता है। अतः सूत्र का अर्थ है कि-क्विप् प्रत्यय तथा झलादि कित्-ङित् प्रत्यय के परे अनुनासिकान्त अङ्ग के उपधा को

दीर्घ होता है। प्रशान्, शान्तः-ये क्रमशः क्विप् तथा झलादि कित्-ङित् निमित्त के उदाहरण हैं।

इस झल् का सम्बन्ध "अज्झनगमां सनि" (पा. सू. 6.4.16) तथा "तनोतेर्विभाषा" (पा. सू. 6.4.17) सूत्र में भी है। प्रथम सूत्र से 'चिकीर्षति, जिघांसति, जिगांसते' में झलादि सन् को निमित्त मानकर नित्य दीर्घ तथा द्वितीय सूत्र से 'तितांसति-तितंसति' में वैकल्पिक दीर्घ हुआ है।

5. अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (6.4.37) सूत्र से अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश यम, रम, नम, गम, हन, मन-धातु तथा तन, क्षण, ऋण, तृण आदि तनोत्यादि धातु और वन धातु के अनुनासिक का लोप होता है झलादि कित्, ङित् प्रत्यय के परे । जैसा कि-अनुदात्तोपदेश-'यम, रम' धातु से क्त्वा, क्त, क्तवतु प्रत्यय करने पर अनुनासिक मकारका लोप होकर 'यत्वा, यतः, यतवान्, रत्वा, रतः रतवान्' एवं वन से क्तिन् में वतिः और तन, क्षण आदि से निष्ठा में 'ततः, ततवान्, क्षतः, क्षतवान्' आदि पद निष्पन्न होते हैं।

6. जनसनखनां सञ्झलोः (6.4.42) इसमें पूर्वोक्त सूत्र के 'झलि' और 'क्ङिति' पद का तथा "विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत्" (पा. सू.6.4.41) सूत्र के 'आत्' पद का अनुवर्तन है। अतः सूत्र का अर्थ है कि-झलादि सन् प्रत्यय तथा झलादि कित्, ङित् प्रत्यय के परे जन, सन एवं खन धातु के नकार को आकार आदेश होता है। जैसा कि -झलादि सन् प्रत्यय परे 'सिषासति' में तथा झलादि कित्-ङित् प्रत्यय के परे 'सातः, जातः' जजातः में नकार को आकार हुआ है।

7. हुझल्भ्यो हेर्धिः (6.4.101) इस सूत्र से 'हु' और झलन्त धातु से परे सिप् के स्थान में जायमान 'हि' को 'धि' आदेश होता है। अतः 'हु' धातु का 'जुहुधि' तथा 'झलन्त-भिद्, छिद्, के 'भिन्धि, छिन्धि' पद सिद्ध होते हैं।

8. मस्जिनशोर्झलि (7.1.60) इसमें "इदितो नुम् धातोः" (पा. सू. 7.1.58) से विधेय नुम् पद का अनुवर्तन होता है। अतः इससे झलादि प्रत्यय के परे 'मस्ज' तथा 'नश' धातु को नुम् का आगम होता है। इसके उदाहरण हैं- मङ्क्त्वा, मङ्क्तुम्, नंष्टा, नंष्टुम् आदि पद।

9. बहुवचने झल्येत् (7.3.103) इसमें "अतो दीर्घो यञि" (पा. सू. 7.3.101) से 'अतः' तथा "सुपि च" (पा. सू. 7.3.102) से 'सुपि' पद का अनुवर्तन है। अतः इससे झलादि बहुवचन सुप् प्रत्यय के परे अकार को एकार आदेश 'रामेभ्यः, कृष्णेभ्यः, रामेषु, कृष्णेषु' आदि पदों में हुआ है।

10. नश्चापदान्तस्य झलि (8.3.24) इसमें "मोऽनुस्वारः" सूत्र का सम्बन्ध है। अतः

इस सूत्र से झल् प्रत्याहार पर में हो तो अपदान्त नकार तथा मकार को अनुस्वार होता है। जैसा कि यशांसि, आक्रंस्यते में क्रमशः नकार एवं मकार को अनुस्वार हुआ है।

ल- अनुबन्ध से बननेवाला अन्तिम शल् प्रत्याहार का उपयोग केवल "शल इगुपधादनिटः क्सः" (3.1.45) सूत्र में हुआ है, जिसका सोदाहरण परिचय इक् प्रत्याहार के प्रसङ्ग में हो चुका है।

इस प्रकार ट, ण, म, ञ, ष, श, व, य, र, ल- इन टकारादि-लान्त दस अनुबन्धों से बननेवाले बत्तीस प्रत्याहारों से सम्बद्ध सूत्रों का सोदाहरण परिचय सम्पन्न हुआ।

(ज) प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्रों की संख्या और उनका विवरण

महर्षि पाणिनि के सूत्रों की संख्या 3978 है, जिनमें वर्णसमाम्नाय के प्रत्याहार वाले सूत्र 223 हैं। इनमें कुछ तो प्रत्याहारात्मक हैं और कुछ प्रत्याहार बहुल तथा अधिक हैं प्रत्याहारघटित सूत्र। जिनका अष्टाध्यायी के अध्याय पाद-क्रम के अनुसार विवरण इस प्रकार हैः-

अध्याय	प्र. पाद	द्वि. पाद	तृ. पाद	च. पाद		योग
प्रथम	22	6	2	1	=	31
द्वितीय	0	2	0	2	=	4
तृतीय	9	1	2	0	=	12
चतुर्थ	5	4	3	2	=	14
पञ्चम	2	0	3	1	=	6
षष्ठ	29	7	15	23	=	74
सप्तम	6	13	6	9	=	34
अष्टम	0	13	17	18	=	48

इनके अतिरिक्त बहुत ऐसे भी सूत्र हैं, जिनमें साक्षात् प्रत्याहार का उल्लेख तो नहीं है, किन्तु उनमें पूर्व सूत्रों के प्रत्याहारों का सम्बन्ध है। अतः वे भी प्रत्याहार सम्बन्धी सूत्र हैं, जिनकी संख्या-104 है। इनका भी विवेचन प्रसङ्गतः इस ग्रन्थ में किया गया है। इन सबका संज्ञा, परिभाषा आदि षड्विध सूत्रों के अनुसार विवरण इस प्रकार हैः-

(1) संज्ञा सूत्र - 21 (2) परिभाषा सूत्र - 7 (3) विधि सूत्र - 285

(4) नियम सूत्र - 4 (5) अतिदेश सूत्र - 7 (6) अधिकार सूत्र - 3

अष्टाध्यायी के 3978 सूत्रों में से केवल 327 सूत्रों में ही प्रत्याहार का योग है। इससे यह ज्ञात होता है कि जो कार्य वर्णसम्बन्धी उद्देश्य और निमित्त सापेक्ष हैं,

उनमें ही प्रत्याहारों का विशेष उपयोग हुआ है। इसीलिए संहिता के अधिकार वाले "इकोयणचि, झलां जश् झशि, झरो झरि सवर्णे, खरि च, हशि च" आदि सन्धि-सम्बन्धी सूत्र प्रायः प्रत्याहार बहुल हैं तथा धातु और प्रातिपदिक सम्बन्धी कुछ सूत्र भी प्रत्याहार-घटित हैं। जिनमें धातु से होनेवाले कृत् प्रत्ययों के विधायक "अचो यत्, ऋहलोर्ण्यत्, इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, हलश्च" आदि सूत्र हैं। इसी प्रकार प्रातिपदिक सम्बन्धी सूत्रों में "सुपि च, बहुवचने झल्येत्, अचि र ऋतः, नपुंसकस्य झलचः, हलि लोपः, योऽचि" आदि प्रत्याहारघटित सूत्र आते हैं। कारक, समास तथा आत्मनेपद, परस्मैपद विधायक सूत्र प्रत्याहार-शून्य हैं। इसमें कारण यह है कि- ये विधियाँ वर्ण को निमित्त मानकर नहीं होती हैं। इनके लिए अर्थ अपेक्षित होता है, इसीलिए इनमें प्रत्याहारों का सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (पा. सू. 2.3.46) "कर्मणि द्वितीया" (पा. सू. 2.3.2) "कर्तृकरणयोस्तृतीया" (पा. सू. 2.3.18) आदि कारक सम्बन्धी सूत्र अर्थ को निमित्त मानकर प्रवृत्त होते हैं। समास विधायक "सह सुपा (पा. सू. 2.1.4) सुप्प्रतिना मात्रार्थे (पा. सू. 2.1.9)" सूत्रों में सामान्यतः सुप् प्रत्याहार का योग है, वर्णसमाम्नाय के प्रत्याहारों का नहीं।

इनके अतिरिक्त अन्य कार्यों में किसी न किसी प्रत्याहार का कहीं न कहीं योग है ही, जिनका समासतः विवरण पूर्वोक्त संज्ञा, परिभाषा आदि षड्विध सूत्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार वर्णसमाम्नाय के प्रत्याहारों का उपयोग तथा अष्टाध्यायी के अध्याय-पादक्रम एवं षड्विध सूत्रों के अनुसार प्रत्याहार सम्बन्धी सूत्रों का विवरण प्रस्तुत किया गया।

पञ्चम प्रभा

1. सुप्-तिङ्-प्रत्याहारघटित सूत्र

वर्णसमाम्नाय सम्बन्धी चौदह सूत्रों के अनुबन्धों से बननेवाले प्रत्याहारों का उपयोग तथा उनकी समीक्षा के बाद सुप्-तिङ् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्रों का विवेचन भी आवश्यक है, क्योंकि प्रत्याहार से उनका भी ग्रहण होता है। अतः किन- किन सूत्रों में उनका उपयोग हुआ है, इसका सोदाहरण परिचय इस प्रकार है-

(क) सुप् प्रत्याहारघटित सूत्र		कार्य	उदाहरण
1. सुपः	1.4.103	एकवचन द्विवचन-बहुवचन	रामः, रामौ, रामाः
2. सुबामन्त्रितेपराङ्गवत्स्वरे	2.1.2	पराङ्गवद्भाव	परशुना वृश्चन्
3. सह सुपा	2.1.4	अधिकार सूत्र	कृष्णश्रितः, अनुव्यचलत्
4. सुप् प्रतिना मात्रार्थे	2.1.9.	समासविधायक सूत्र	शाकप्रति, सूपप्रति
5. सुपो धातुप्रातिपदिकयोः	2.4.71	सुप्-लुक्	पुत्रीयति, राजपुरुषः
6. अव्ययादाप्सुपः	2.4.82	सुप्-लुक्	तत्रशालायाम्, कृत्वा, हृत्वा
7. अनुदात्तौ सुप्पितौ	3.1.4.	अनुदात्तस्वर	दृषदौ, दृषदः, पचति, पठति
8. सुप आत्मने क्यच्	3.1.8	क्यच्प्रत्यय	पुत्रीयति, राजीयति, कवीयति
9. वदः सुपि क्यप् च	3.1.106	क्यप्-यत्	ब्रह्मोद्यम्-ब्रह्मवद्यम्
10. सुपि स्थः	3.2.4	क-प्रत्यय	समस्थः, विषमस्थः
11. सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये	3.2.78	णिनि-प्रत्यय	उष्णभोजी, शीतभोजी
12. वा सुप्यापिशलेः	6.1.92	वृद्धि-एकादेश	प्रार्षभीयति प्रर्षभीयति
13. सर्वस्य सुपि	6.1.191	उदात्तस्वर	सर्वः, सर्वौ, सर्वे
14. ओः सुपि	6.4.83	यण् आदेश	खलप्वौ, खलप्वः
15. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाज्जालः	7.1.39	सु, लुक् आदि आदेश	ऋजवः सन्तु पंथाः, परमे व्योमन्
16. प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः	7.3.44	इदादेश	सर्विका, कारिका
17. सुपि च	7.3.102	दीर्घ	रामाभ्याम्, रामाय
18. कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ	8.1.69	अनुदात्त	प्रपचति पूति, पचति मिथ्या
19. नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति	8.2.2	नलोप-असिद्ध	राजभ्याम्, राजवती आदि
20 रोऽसुपि	8.2.69	रेफादेश	अहरहः, अहर्ददाति, अहर्भुङ्क्ते
21. रोः सुपि	8.3.16	विसर्जनीय	पयःसु, सर्पिःषु

(ख) सुप् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र कार्य उदाहरण

1.	विभक्तिश्च	1.4.104	विभक्ति संज्ञा	रामः, पठति
2.	काम्यच्च	3.1.9	काम्यच् प्रत्यय	पुत्रकाम्यति, वस्त्रकाम्यति
3.	भुवो भावे	3.1.107	क्यप् प्रत्यय	ब्रह्मभूयम्
4.	व्रते	3.2.80	णिनि	स्थण्डिलशायी
5.	मनः	3.2.82	णिनि	दर्शनीयमानी
6.	आत्ममाने खश्च	3.2.83	खश्-णिनि	पण्डितंमन्यः पण्डितमानी
7.	वर्षाभ्वश्च	6.4.84	यण्	वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः

पूर्वोक्त इक्कीस सूत्रों में सुप् प्रत्याहार का उद्देश्य और निमित्तरूप में साक्षात् उल्लेख है। उनके अतिरिक्त जिनमें सुप् प्रत्याहार का अनुवर्तन होता है, उन सात सूत्रों का परिचय भी सुप् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र के नाम से दिया गया।

सुप् प्रत्याहार के भीतर सुट् और आप्- ये दो प्रत्याहार भी हैं, जिनका योग "सुडनपुंसकस्य" (पा सू. 1.1.43) तथा "अनाप्यकः" (पा. सू. 7.2.112) सूत्र में है। इन दोनों सूत्रों का विवेचन द्वितीय प्रभा में पहले हो चुका है। यही इन सुप्, सुट् तथा आप् प्रत्याहारों से सम्बद्ध तीस सूत्रों के उपयोग का संक्षिप्त परिचय है।

(ग) तिङ् प्रत्याहार-घटित सूत्र कार्य उदाहरण

1.	तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथमध्यमोत्तमाः	1.4.101	प्रथम-मध्यम-उत्तम-संज्ञा	तिप्-तस्-झि,सिप्-थस्-थ, मिप्-वस्-मस्, त-आताम्-झ आदि।
2.	उपपदमतिङ्	2.2.19	समासविधायक	कुम्भं करोति कुम्भकारः
3.	कृदतिङ्	3.1.93	कृत्संज्ञा	शास्त्रकृत्
4.	तिङ्शित् सार्वधातुकम्	3.4.113	सार्वधातुकसंज्ञा	तिप्, शप् आदि
5.	तिङश्च	5.3.56	तमप्-प्रत्यय	पचतितमाम्, जल्पतितमाम्
6.	भूसुवोस्तिङि	7.3.88	गुण-निषेध	अभूत्, सुवै, सुवावहै आदि
7.	तिङो गोत्रादीनि कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः	8.1.27	अनुदात्त-स्वर	पचति पचति गोत्रम्, पचति गोत्रम्
8.	तिङ्ङतिङः	8.1.28	अनुदात्त-स्वर	देवदत्तः पठति
9.	सगतिरपि तिङ्	8.1.68	अनुदात्त स्वर	यत्काष्ठं पचति, यत्काष्ठं प्रपचति
10.	तिङि चोदात्तवति	8.1.71	उदात्त स्वर	यत् प्रपचति, यत्करोति
11.	अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम्	8.2.96	उदात्त-प्लुत	अङ्ग कूज३, अङ्ग व्याहर३
12.	क्षियाशीः प्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्	8.2.104	स्वरित-प्लुत	स्वयं रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति,

(घ) तिङ् प्रत्याहार-सम्बन्धी सूत्र

सूत्र		कार्य	उदाहरण
1. तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः	1.4.102		
2. आर्धधातुकं शेषः	3.4.114	आर्धधातुकसंज्ञा	स्य, तास् आदि
3. द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ	5.3.57	तरप्, ईयसुन्	पचतितराम्
4. कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ	8.1.69	अनुदात्त	पचति पूति

तिङ् प्रत्याहार का ही अवान्तर भेद तङ् प्रत्याहार भी है, जिसका योग केवल आत्मनेपद संज्ञाविधायक "तङानावात्मने पदम्" (पा. सू. 1.4.100) सूत्र में है।

तिङ् और तङ् प्रत्याहार से साक्षात् तथा परम्परा सम्बन्ध वाले इन सत्रह सूत्रों में तिङ् प्रत्याहार भी सुप् प्रत्याहार के समान उद्देश्य तथा निमित्त के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इन दोनों में अन्तर यह है कि- सुप् प्रत्ययरूप में प्रत्याहार है और तिङ् लकार के स्थान में विधीयमान आदेश-रूप में प्रत्याहार है। दोनों ही पद के आत्मा हैं, इनके बिना शब्द में पदत्व नहीं आता। इसीलिए अपद शब्द के प्रयोग का निषेध है- "अपदं न प्रयुञ्जीत।"

पाणिनि ने स्पष्ट शब्दों में पद का लक्षण करते हुए कहा है- "सुप्तिङन्तं पदम्" (पा. सू. 1.4.4) अर्थात् सुप् प्रत्याहारान्त तथा तिङ्-प्रत्याहारान्त शब्द ही पद के भागी होते हैं। इसी सूत्र में सुप् और तिङ् इन दोनों प्रत्याहारों का एक साथ योग है। इसलिए "नाज्झलौ" (पा. सू. 1.1.10) के समान यह सूत्र भी उभयात्मक प्रत्याहार वाला है। एक का सम्बन्ध प्रातिपदिक से है और दूसरे का धातु से। इन दो प्रत्याहारों के माध्यम से ही नाम और आख्यात अनेक रूप में विभक्त हो जाते हैं। इसीलिए पाणिनि ने इन्हें "विभक्ति" (पा. सू. 1.4.104) कहा है।

2. अर्वाचीन व्याकरण में पाणिनीय प्रत्याहारों का प्रभाव

(क) कातन्त्र व्याकरण

पाणिनीय व्याकरण के बाद 150 वर्ष ई० पू० शर्ववर्मा द्वारा रचित सबसे प्राचीन 'कातन्त्र व्याकरण' है जो 'कौमार' तथा 'कलाप' के नाम से भी प्रसिद्ध है। पाणिनीय व्याकारण की अपेक्षा इसमें सूत्रों की संख्या बहुत कम है। इसमें केवल 952 सूत्र हैं, जो सन्धि, नाम एवम् आख्यात नामक तीन अध्यायों में विभक्त हैं। यही पहला व्याकरण ग्रन्थ है, जिसमें प्रत्याहार प्रक्रिया नहीं है। क्योंकि इन्होंने पाणिनि के वर्णसमाम्नाय को आधार न मानकर मातृकावर्ण को ही आधार माना है। यद्यपि "सिद्धो वर्णसमाम्नायः" (का. व्या. सन्धिप्र. 1.1) इस प्रथम सूत्र में वर्णसमाम्नाय का उल्लेख किया है, किन्तु "तत्र चतुर्दशादौ स्वराः" (का. व्या. सन्धिप्र.1.2) "दश समानाः" (का. व्या. सन्धि प्र. 1.3) आदि स्वरसम्बन्धी सूत्रों के बाद "कादीनि व्यञ्जनानि" (का. व्या. सन्धि. प्र.1.9)

"ते वर्गाः पञ्च पञ्च पञ्च" (का. व्या., सन्धिप्र.1.10) कहकर प्रसिद्ध वर्णमातृका को ही आधार माना है। अतः इनके सूत्रों में प्रत्याहार पद्धति नहीं है। इसीलिए पाणिनि के "मोऽनुस्वारः" (पा. सू. 8.3.23) की जगह इसमें "मोऽनुस्वारं व्यञ्जने" (का. व्या., सन्धिप्र. 3.60) कहना पड़ा। पाणिनि के यहाँ तो "हलि सर्वेषाम्" (पा. सू. 8.3.22) सूत्र से 'हलि' इस प्रत्याहार पद का अनुवर्तन होने से व्यञ्जन पद का उपादान सूत्र में नहीं करना पड़ा। पाणिनि की प्रत्याहार-प्रक्रिया का अनुसरण न करने के कारण "कातन्त्र व्याकरण" पाणिनि के सूत्रों से बिल्कुल अछूता है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "ङेर्यः" (का. व्या. नामप्र.1.24) "सम्बुद्धौ च" (का. व्या. नामप्र. 1.39) "जसुशसोः शिः" (का. व्या. नामप्र. 2.87) "वामुशसोः"(का. व्या. नामप्र. 2.1.39) "संयोगान्तस्य लोपः" (का. व्या. नामप्र. 3.196) "गुप्तिजुकिद्भ्यः सन्" (का. व्या. आख्यातप्र. 2.36) "भवतेरः" (का. व्या. आख्यातप्र. 3.103) "चक्षिङः ख्याञ्" (का. व्या. आख्यातप्र. 4.212) आदि बहुत सूत्र तो पाणिनीय व्याकरण के ही हैं। इसके अतिरिक्त भी पाणिनि के सूत्रों को तोड़-जोड़कर उपयोग हुआ है। केवल वर्ण-समाम्नाय की जगह वर्णमातृका का उपयोग होने के कारण इस 'कातन्त्र व्याकरण' में प्रत्याहार का सम्बन्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त पाणिनि के परवर्ती चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, मुग्धबोध, सारस्वत, सुपद्म, हरिनामामृत आदि सभी व्याकरणों में किसी न किसी रूप से पाणिनि के प्रत्याहारों का प्रभाव स्पष्ट है। केवल वर्णसमाम्नाय के सूत्रों की संख्या में कमी तथा अनुबन्धों में फेर-बदल हुआ है, उदाहरणार्थ यहाँ शाकटायन, मुग्धबोध तथा सुपद्म व्याकरण के वर्णसमाम्नाय-सम्बन्धी प्रत्याहारों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

(ख) शाकटायन व्याकरण

814 ई० के लगभग शाकटायन द्वारा रचित 'शाकटायन व्याकरण[1]' के वर्णसमाम्नाय का क्रम इस प्रकार है-

(1.) अ इ उ ण्, (2.) ऋ क्, (3.) ए ओ ङ्, (4.) ऐ औ च्,
(5.) ह य व र ल ञ्, (6.) ञ म ङ ण न म्, (7.) जं ब ग ड द श्,
(8.) झ भ घ ढ ध ष्, (9.) ख फ छ ठ थ ट्, (10) च ट त व्,
(11.) क प य्, (12.) श ष स अं अः क प र्, (13.) ह ल्।

इस क्रम में तेरह सूत्र हैं। 'लण्' को इन्होंने पृथक् सूत्र न मानकर 'हयवर' के साथ जोड़कर 'हयवरलञ्' एक सूत्र मान लिया है और 'श ष स' के साथ अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का समावेश कर दिया है। इनके द्वारा बननेवाले अच्,हल् आदि 29 प्रत्याहारों का उपयोग शाकटायन व्याकरण में हुआ है, जिनमें 23

1. 'शाकटायन व्याकरण' के नाम से जो आज एकमात्र मुद्रित ग्रन्थ मिलता है, यह प्राचीन शाकटायन व्याकरण से सर्वथा भिन्न है।

प्रत्याहार तो पाणिनीय व्याकरण में व्यवहृत ही हैं और 6 अतिरिक्त हैं। इन सभी प्रत्याहारों का विवरण इस प्रकार है-

	प्रत्याहार		शाकटायन सूत्र	
1.	अक्	-	ऋत्यकः	1.1.75
2.	अच्	-	मिदचोऽन्त्यात्	1.1.45
3.	अण्	-	द्रलुच्यणः	1.1.80
4.	अम्	-	शश्छोऽमि	1.1.144
5.	अल्	-	षष्ठ्याः स्थानेऽन्तेऽलः	1.1.47
6.	इक्	-	इक्येङ्	1.1.82
7.	एङ्	-	देश एवैङ् छादौ	1.1.20
8.	एच्	-	एचोऽच्ययवायाव्	1.1.71
9.	ऐच्	-	यस्याक्वादिरादैच्	1.1.19
10.	हल्	-	हलोऽनुनासिकेऽनुनासिकः स्वः	1.1.106
11.	यञ्	-	यञेवादिकः	1.1.72
12.	यम्	-	हलो यमि यमो वा	1.1.132
13.	मय्	-	मयोऽचि वोऽसन्	1.1.105
14.	ङम्	-	ह्रस्वान्ङमः पदान्ते	1.1.123
15.	जश्	-	चर्जशः	1.1.69
16.	बश्	-	बशो भष् झषस्स्वध्वोरचैकाचः	1.2.76
17.	झष्	-	बशो भष् झषस्स्वध्वोरचैकाचः	"
18.	भष्	-	बशो भष् झषस्स्वध्वोरचैकाचः	"
19.	खय्	-	पुमः खयि	1.1.151
20.	छव्	-	छव्यम्प्रशान्	1.1.150
21.	चर्	-	चर्जशः	1.1.69
22.	शर्	-	शरोऽनु द्वे	1.1.115
23	शल्	-	शल्यनुस्वारः	1.1.110
अतिरिक्त प्रत्याहार-				
24.	अष्	-	व्योऽष्याघोभोभगोः	1.1.153
25.	हष्	-	अतोऽद्धष्युः	1.1.157
26.	जष्	-	जषि जश्	1.1.136
27.	जय्	-	मान्तोपान्तजयो मतोर्मो वः	1.2.96
28.	जर्	-	जरि जरः स्वे वा	1.1.133
29.	जल्	-	जलो जश्	1.2.75

(ग) मुग्धबोध व्याकरण

1210-1300 ई० के मध्य आचार्य वोपदेव द्वारा प्रणीत इस व्याकरण में वर्ण-समाम्नाय के केवल दस सूत्र हैं, जिनमें तीन स्वर-सम्बन्धी और सात व्यञ्जन-सम्बन्धी सूत्र हैं, जिनका स्वरूप इस प्रकार है-

1. अ इ उ ऋ लृक्, 2. ए ओ ङ्, 3. ऐ औ च्, 4. ह य व र ल्, 5. ञ ण न ङ म्, 6. झ ढ ध घ भ्, 7. ज ड द ग ब्, 8. ख फ छ ठ थ्, 9. च ट त क प् 10. श ष स्।

इनमें पाणिनि के अनुबन्धों से भिन्न भ, ब, थ, प, स- वर्ण भी अनुबन्ध के रूप में गृहीत हैं। अतः इन अनुबन्धों से बननेवाले प्रत्याहार पाणिनि के सम्भावित प्रत्याहारों की कोटि में भी नहीं आते।

यहाँ कुछ प्रत्याहारों को सूत्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है-

	प्रत्याहार		मु. बो. व्या. सूत्र	
1.	अक्	-	ऋत्यक्	46
2.	अच्	-	अच आरालैज् ब्रिः	9
3.	अम्	-	पुंसः सन् खप्यम्परेऽख्ये	55
4.	इक्	-	वेक् स्वश्चार्णेऽसे	45
5.	इच्	-	यलायवायावोऽचीचः	33
6.	एङ्	-	एङोऽतः	39
7.	ऐच्	-	अचआरालैज् ब्रिः	9
8.	यम्	-	वा त्वरयपेऽरयम्	53
अतिरिक्त प्रत्याहार				
9.	इङ्	-	इङोऽरलेङ् णुः	8
10.	हस्	-	दान्ते मोऽसम्राजे हसे नुः	54
11.	यप्	-	वा त्वरयपेऽरयम्	53
12.	ञप्	-	ञपे ञम् नो	
13.	ञम्	-	ञपे ञम् नो	52
14.	णङ्	-	स्वात्णङोऽचि द्विः	63
15.	णप्	-	उञ णपात्त्वचि व वा	44
16.	णम्	-	णमितोऽन्त्याचोऽन्तेऽन्त्यस्यादौ	17
17.	झप्	-	झप् झसोः खस् झबोश्चप् जबावन्ते च	65

18.	झब्	-	" "	
19.	झस्	-	हो झस्	21
20.	जब्	-	चपोऽबे जब्	59
21.	खप्	-	खपि वा	75
22.	खस्	-	झप् झसोः खस् झबोश्चप् जबावन्ते च	65
23	चप्	-	चपोऽबे जब्	59
24.	शस्	-	शसि शस्	68

इनमें अक् से यम् तक के आठ प्रत्याहार तो पाणिनीय व्याकरण के ही हैं। इसके अतिरिक्त इङ् से शस् तक के सोलह प्रत्याहार मुग्धबोधकार के अपने हैं।

(घ) सुपद्म व्याकरण

1400 ई० में आचार्य पद्मनाभ द्वारा रचित इस व्याकरण में तेईस प्रत्याहारों का उपयोग हुआ है, जिनमें ग्यारह तो स्वर-सम्बन्धी हैं और बारह व्यञ्जन-सम्बन्धी। स्वर-सम्बन्धी प्रत्याहारों के लिए पाणिनि के प्रसिद्ध "अ इ उ ण्, ऋ ऌक्, ए ओङ्, ऐ औ च्" इन चार सूत्रों का नामतःउल्लेख है। इसके बाद-

2. अचोऽन्ये हल्, 3. खयादिद्वयं वर्गस्य, 4. तृतीयो जश्, 5. तुर्य्यो झष्, 6. ङम् पञ्चमः, 7. झय् वर्गोऽङम्, 8. यवरलो यण्, 9. शषसाः शर्, 10.खर् खय् शरौ, 11. खरुजूझितो हल् हश्, 12. ङमूयणूहीनो झल्, 13. अशर्हो यय्

इन बारह सूत्रों के द्वारा व्यञ्जन-सम्बन्धी बारह प्रत्याहारों का संकेत है, जो नामतः- हल्,खय्,जश्, झष्, ङम्, झय्,यण्, शर्, खर्, हश्, झल्,यय् हैं। ये सभी प्रत्याहार पाणिनीय ही हैं। उदाहरणार्थ उनके कुछ सूत्र यहाँ प्रस्तुत हैं-

प्रत्याहार		सु. व्या. सूत्र	
हल्	-	हलो लग्नाः संयोगः	1.1.20
ऐच्, अक्, एच्	-	वृद्धिरादैजारालोऽक ऐजेचश्च	1.1.21
एङ्, अल्, इक्	-	एङरलो गुण इकः	1.1.22
अच्	-	अचोऽन्त्यादि टिः	1.1.30
यण्	-	एकः पूर्वपराचोः प्राग् यणः	1.2.1
झल्	-	नश्चापदान्ते झलि	1.2.41
अण्	-	अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः	1.2.47
यय्	-	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णो नित्यं त्वनन्तस्य	1.2.48

प्रत्याहार		सु. व्या. सूत्र	
शर्	-	ङ्णाभ्यां कुटु शरि	1.2.49
झय्, झष्	-	झयस्तृतीयो झषि च	1.2.52
खर्	-	खरि प्रथमोऽपदान्ते च	1.2.54
खय्	-	शरः खयः	1.2.68
हश्	-	हशि नित्यम्	1.3.22

स्वर-सम्बन्धी ग्यारह प्रत्याहारों में 'ऋक्' को छोड़कर शेष दस प्रत्याहार भी पाणिनीय ही हैं। इस प्रकार अर्वाचीन व्याकरण-शास्त्रों में भी पाणिनीय प्रत्याहार-पद्धति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

3. वर्णसमाम्नायरूप चौदह सूत्रों का दार्शनिक पक्ष

वर्णों का आनुपूर्वी-सन्निवेश विशेषरूप वर्णसमाम्नाय न केवल प्रत्याहारों के माध्यम से शास्त्र-प्रवृत्ति का प्रयोजक है, अपितु चौदह सूत्रों के रूप में दार्शनिक पक्ष का भी द्योतक है, क्योंकि सनक, सनन्दन, सनत्कुमार आदि सिद्ध पुरुषों के उद्धार की कामना से भगवान् शंकर ने डमरु बजाया था। डमरुवादन आनन्द का प्रतीक है। यों तो स्रष्टा ब्रह्मा, पालनकर्त्ता विष्णु और संहारकर्त्ता रुद्ररूप शंकर माने जाते हैं। जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है, वह तो आशुतोष शंकर से शीघ्र प्राप्त हो जाता है। ज्ञान शब्दानुविद्ध है, शब्द के बिना कोई ज्ञान सम्भव नहीं, अतः वर्णों के माध्यम से तत्त्वों का उपदेश उनके डमरु वादन का परम लक्ष्य था, जिसका विवरण नन्दिकेश्वर कृत काशिका में प्राप्त होता है। नन्दिकेश्वर ने शैवागम तथा सांख्य-दर्शन के अनुसार कारिकाओं के माध्यम से चौदह सूत्रों के रहस्यों को प्रस्तुत किया है।

1. अइउण्– इस प्रथम सूत्र के अकार को निर्गुण ब्रह्म, इकार को चित्कला तथा व्यापक उकार को ण-महेश्वर कहा गया है[1]।

2. ऋलृक्– इस सूत्र का ऋ-परमेश्वर तथा लृ-माया का प्रतीक है। परमेश्वर स्वातन्त्र्यरूप माया शक्ति के द्वारा जगत् को क्-दिखा दिया[2], क्योंकि चित्शक्ति में ही विश्व का दर्शन होता है। जगत् की सृष्टि का संकेत इस सूत्र में किया गया है। चन्द्र-चन्द्रिका के समान परमेश्वर और उसकी शक्ति एक ही है दो नहीं, केवल विश्वदर्शन के समय दोनों में पार्थक्य

1. अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु।
चित्कलामिं समाश्रित्य जगद्रूप उणीश्वरः।। (न. का. 3)
अकारो ज्ञप्तिमात्रं स्यादिकारश्चित्कला मता।
उकारो विष्णुरित्याहु र्व्यापकत्वान्महेश्वरः।। (न. का. 9)

2. ऋलृक् सर्वेश्वरो मायां मनोवृत्तिमदर्शयत्।
तामेव वृत्तिमाश्रित्य जगद्रूपमजीजनत्।। (न. का. 10)

की प्रतीति होती है। ऋ-ऌ- ये दोनों वर्ण भी वस्तुतः एक ही हैं। ऋ-वर्ण ही ऌ-ध्वनि के रूप में उच्चरित होता है। ऋ और ऌ का सावर्ण्यरूप एकता शाब्दिकों को अभीष्ट है, तभी तो महर्षि पतञ्जलि ने ऌकारोपदेश के प्रयोजन की जिज्ञासा- "अथ ऌकारोपदेशः किमर्थः" के रूप में की है। सामान्यतः "रलयोरभेदः" र और ल के अभेद की बात व्यवहार में भी प्रसिद्ध है, अतः ऋ परमेश्वर और उसकी शक्ति ऌ-चित्कला का परस्पर सामरस्य है।

3. एओङ्- सभी पदार्थ माया और ईश्वरात्मक हैं इस बात का संकेत इस सूत्र में है[1]। ए और ओ वर्ण सन्ध्यक्षर हैं, अ+इ=ए, अ+उ=ओ की समष्टि ही ए-ओ वर्ण है, अ, इ, उ, से भिन्न ए और ओ वर्ण की सत्ता नहीं है, इसी प्रकार विश्व भी परमेश्वर से भिन्न नहीं है, परमेश्वर ही विश्वरूप में विवर्त होकर व्यक्त हो रहा है, अतः अद्वैतवाद की पुष्टि इस सूत्र से होती है।

4. ऐऔच्- इस सूत्र से भी पूर्वोक्त बात का ही पुष्टि होती है। ए और ओ वर्ण में पुनः अकार का सम्बन्ध होने से ऐ और औ वर्ण निष्पन्न होते हैं। जिस प्रकार ब्रह्म के भीतर वर्तमान जगत् ही इच्छा-शक्ति के द्वारा व्यक्त होता है,[2] उसी प्रकार अ, इ, उ-ये तीन वर्ण ही ए-ओ, ऐ-औ के रूप में व्यक्त होते हैं। इसलिए जगत्-सृष्टि और शब्दसृष्टि समान है- इसका संकेत इस सूत्र में हुआ है।

5-6. हयवरट्-लण् पूर्व के स्वर-सम्बन्धी चार सूत्र ब्रह्म और माया के स्वरूप तथा जगत् की एकता के द्योतक हैं। इसके बाद व्यञ्जन-सम्बन्धी सूत्रों में 'ह य व र' और 'ल' ये पाँच आकाश, वायु, वह्नि, जल तथा पृथिवी के प्रतीक हैं[3]। अवर्णरूप परमेश्वर से ही सर्वप्रथम हकाररूप आकाशतत्त्व प्रकट हुआ और फिर आकाश से यकाररूप वायुतत्त्व, वायु से रेफरूप अग्नितत्त्व, अग्नि से वकाररूप जलतत्त्व, जल से लकाररूप पृथिवी का आविर्भाव हुआ[4], फिर पृथिवी से औषधी, अन्न, पुरुष प्रकट होते हैं। इस प्रकार हकार आदि पाँच वर्ण आकाश वायु आदि पाँच भूत-तत्त्वों के प्रतीक हैं।

यद्यपि पञ्चभूतों के क्रमानुसार इस सूत्र में वर्णों का सन्निवेश नहीं है। उस क्रम

---

1. एओङ् मायेश्वरात्म्यैक्यविज्ञानं सर्ववस्तुषु।
साक्षित्वात् सर्वभूतानां स एक इति निश्चितम् ।। (न. का. 13)
2. ऐऔच् ब्रह्मस्वरूपः सन् जगत् स्वान्तर्गतं ततः।
इच्छया विस्तरं कर्त्तुमाविरासीन्महामुनिः ।। (न. का. 14)
3. भूतपञ्चकमेतस्माद्धयवरलमहेश्वरात्।
व्योमवाय्वम्बुवह्न्याख्यभूतान्यासीत् स एव हि।। (न. का. 15)
4. हकाराद्व्योमसंज्ञं च यकाराद्वायुरुच्यते।
रकाराद्वह्निस्तोयं तु वकारादिति सैव वाक् ।। (न. का. 16-17)

के अनुसार तो र-वर्ण के बाद वकार होना चाहिये। प्रसिद्ध ' य र ल व-' इस मातृकापाठ के क्रम में भी पञ्चभूतों का विकास-क्रम नहीं है, फिर भी तन्त्रशास्त्रों में पञ्च-भूतों के बीजक्रम के अनुसार यहाँ वर्णों की व्याख्या की गई है। सृष्टि का यह क्रम-उपनिषद् सिद्ध है। तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है-

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात्पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।" (तैत्तिरीयोपनिषद्. ब्रब. अ. 2, अनु.1)

प्राणिमात्र का आधार तथा अन्न आदि का कारण होने से 'लण्' इस स्वतन्त्र सूत्र में पृथिवी तत्त्व का संकेत है।

7. ञमङणनम्- इस सूत्र के पाँच वर्ण पूर्वोक्त आकाश, वायु आदि पाँच भूततत्त्वों के क्रमशः -शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धरूप गुण के प्रतीक हैं[1]। ये गुण समवाय सम्बन्ध से अपने कार्य में रहते हैं। सांख्यदर्शन में ये तन्मात्रा के नाम से विख्यात हैं। वहाँ इनसे ही पञ्चमहाभूतों की सृष्टि मानी गयी है।

8-9. झभञ्-घढधष्- इन दो सूत्रों के पाँच वर्णों को क्रमशः- वाणी, पाणि, चरण, गुदा, लिङ्ग- इन पाँच कर्मेन्द्रियों का प्रतीक माना गया है। (न. का. 19-20)

10. जबगडदश्- इस सूत्र के पाँच वर्ण श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, नासिका तथा रसना- इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के प्रतीक हैं। (वही 21)

11. खफछठथचटतव्- इसमें आठ वर्ण हैं, जो क्रमशः प्राण, अपाम, उदान, व्यान, समानरूप पञ्च-प्राण तथा मन, बुद्धि और अहंकार के द्योतक हैं। (वही 22-23)

12-13. कपय्-शषसर्- क और प वर्ण प्रकृति और पुरुष के प्रतीक हैं। उनमें प्रकृति के सत्त्व, रज और तम- इन तीन गुणों का संकेत श, ष, स- इन तीन वर्णों से माना गया है। इन गुणों के आश्रय से ही सभी भूतों में विराजमान भगवान् शिव क्रीड़ा करते हैं। (वही 25-26)।

14. हल्- इस सूत्र का संकेत सभी तत्त्वों के कारण तथा स्वयं तत्त्वातीत भगवान् परमशिव में है।(वही 27) इस प्रकार नन्दिकेश्वर की काशिका के अनुसार चौदह सूत्रों का तात्त्विक स्वरूप ज्ञात होता है। इसमें सांख्यदर्शन के अनुसार एक मूलप्रकृति, सात प्रकृति-विकृति, सोलह विकार तथा पुरुष इन पच्चीस[2] तत्त्वों का विवरण तथा शैवागम के अनुसार परम-शिव

1. शब्दस्पर्शौ रूपरसगन्धाश्च ञमङणनम्।
व्योमादीनां गुणा ह्येते जानीयात् सर्ववस्तुषु ।। (न. का.18)
2. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।। (सांका. 3)

के स्वरूप का भी संकेत है, जो वर्णसमाम्नाय के प्रथम वर्ण अकार तथा अन्तिम वर्ण हकार के समाहार रूप 'अहं' शब्द का प्रतीक है और सर्वत्र व्यापक है। इसका विवेचन आगम शास्त्र में विशेष रूप से किया गया है। नन्दिकेश्वर ने भी कहा है-

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः।
आद्यमन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते।। (न. का. 4)

'अहं' यह पद शिवशक्ति के सामरस्य का प्रतीक है, इसकी व्याख्या आगम शास्त्र में अनेक प्रकार से की गयी है। अकार को सभी वर्णों का अगुआ एवं प्रकाशरूप परमशिव और अन्तिम वर्ण हकार को कालरूप विमर्श कहा गया है। दोनों का सामरस्यरूप ही 'अहं ब्रह्म' है[1]। 'अहं' पद की व्याख्या भास्कर राय के शब्दों में इस प्रकार है-

अहकारौ शिवशक्ती शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ।
स्फुरणप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म[2] ।।

वरिवस्या रहस्य. का. 68 व्याख्या

जो प्रकाशस्फुरणरूप शिवशक्ति 'अहं' है, वह वेदान्त का परब्रह्म है। छान्दोग्योपनिषद् में तो स्पष्ट कहा गया है कि सभी दिशाओं में सर्वत्र विराजमान सब कुछ अहं- मैं ही हूँ । मूलतः श्रुति इस प्रकार है-

''अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम्। छान्दोग्योपनिषद् 7.25.1

वर्णसमाम्नाय के प्रथम तथा अन्तिम वर्ण के सहयोग से बननेवाला 'अहं' प्रत्याहार पद परब्रह्म का बोधक है, अतः परब्रह्म ही है, क्योंकि वाणी और अर्थ का सम्बन्ध सनातन है। इसलिए दोनों अभिन्न हैं, एक के बिना दूसरे का होना असम्भव है। इस 'अहं' प्रत्याहार के भीतर सभी प्रत्याहार तथा सभी वर्ण हैं। अतः अहं ब्रह्म के भीतर ही चतुर्दश लोकात्मक चौदह सूत्र हैं।

इस प्रकार 'अहं' पद की व्याख्या से यह सिद्ध हो जाता है कि इस वर्णसमाम्नाय की उपलब्धि में ईश्वर की कृपा ही कारण है, क्योंकि इसमें चौदह सूत्रों का सन्निवेश प्रत्याहार तथा तत्त्वों का भी प्रतिपादक है। अतः वर्णसमाम्नायरूप चौदह सूत्रों में प्रत्याहार-प्रक्रिया के साथ दार्शनिक पक्ष भी जागरूक है।

यत्प्रसादात् सुसम्पन्नं प्रत्याहारसमीक्षणम्।
तं सेनापतिमात्मानं हनुमन्तं नमाम्यहम्।।

---

1. अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
हकारोऽन्त्यः कालरूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः।
अनयोः सामरस्यं यत् परस्मिन्नहमि स्फुटम्।। वरिवस्या रहस्य. का. 68

सिद्धान्तकौमुद्यामुद्धृतपद्यानां पूर्णपरिचयः

इदन्तु तावद् विदितमस्ति यत् पानिणीयव्याकरणे भट्टोजिदीक्षितकृतिः सिद्धान्त- कौमुदी सर्वप्रक्रियाग्रन्थेष्वधिकं प्रकाशते। अस्यां हि महर्षिपाणिनेरष्टाध्याय्याः सूत्राणां व्याख्यानं लक्ष्यानुसारि सम्पन्नम्। अष्टाध्याय्यां सूत्राणां सन्निवेशश्च पदानुवृत्तिक्रमेण जातः, अतः पुरा तेनैव क्रमेण तत्र वार्तिकानि, भाष्यं वृत्तिग्रन्थाश्च निर्मिता आसन्। तदनु लक्षण-क्रमं विहाय लक्ष्यानभिलक्ष्य प्रक्रियाग्रन्था जाताः। एषु प्रक्रियाग्रन्थेषु च लक्ष्यान् पुरस्कृत्य सूत्राणां सन्निवेशो दृश्यते। इमामेव नवीनां शैलीमभिलक्ष्य नव्यव्याकरणमिति व्यवहारः प्राचलद् व्याकरणशास्त्रेषु। तथा च सिद्धान्तकौमुद्यां लक्ष्यरूपेण महाकवीनां पद्यांशा अपि वहुत्रान्वाख्याताः, किन्तु ते प्रायः अपूर्णाः परिचयविरहिताश्च सन्ति। अतो विद्यार्थिनामध्यापकानाञ्चैषा पठनपाठनवेलायां मनसि भवति जिज्ञासा, यत् कस्य महाकवेःपद्यमिदम्, पूर्णरूपञ्चास्य कीदृशमिति? तस्मात् तज्जिज्ञासापरिपूर्तये स्वान्तःसुखाय चेह पद्यभागानां पूर्णपरिचयः प्रस्तूयते। तत्र येषां कवीनां पद्यभागा वाहुल्येन तत्रोदाहृतास्तद्वाहुल्यक्रममनुसृत्य ते ससूत्रमत्र परिचीयन्ते।

(क) तत्र प्रथमं महाकविकालिदासस्य पद्यानामस्त्येवं परिचयः-

(1) **सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्—** **सोऽचिलोपे चेत्पादपूरणम् (6.1.134)**

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्।। (रघुवंशमहाकाव्यम् 1.5)

(2) **रघूणामन्वयं वक्ष्ये-** **तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् (2.4.62)**

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः।। (वही 1.9)

(3) **स बभूवोपजीविनाम्-** **सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (3.2.78)**

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः।। (वही 1.16)

(4) **अनुयायिवर्गः -** **सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (3.2.78)**

व्रताय तेनानुचरेण धेनो र्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः।। (वही 2.4)

(5) **निषेदुषीमासनबन्धधीरः -** **भाषायां सदवसश्रुवः (3.2.108)**

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्।। (वही 2.6.)

(6) **लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम्-** **ति च (7.4.89)**

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम्।। (वही 2.29)

(7) **बाहु-प्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः -** **स्तन्भेः (8.3.67)**

वाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः।। (वही 2.32.)

(8) विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ- नित्यं स्मयतेः (6.1.57)

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः।। (वही 2.33)

(9) न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति- अश्नोतेश्च (7. 4. 72)

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद् यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति।। (वही 2.40)

(10) त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा- गदमदचरयमश्चानुपसर्गे (3.1.100)

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा।
स चेत् स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः।। (वही 3. 45)

(11) उपतस्थे सरस्वती- उपान्मन्त्रकरणे (1. 3. 25)

परिकल्पितसान्निध्या काले काले च वन्दिषु ।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ।। (वही 4.6)

(12) इक्षुच्छायानिषादिन्यः- छायाबाहुल्ये (2.4.22)

इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः।। (वही 4.20)

(13) मदोदग्राः ककुद्मन्तः- यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (8.5.45)

मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम्।। (वही 4.22.)

(14) तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः- तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् (2. 4. 62)

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे।। (वही 4.49)

(15) रजो विश्रामयन् राज्ञाम्- घटादयो मितः, ग. सू. (व्यथो लिटि 7.4.68)

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम्।
रजो विश्रामयन् राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ।। (वही 85)

(16) श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते - क्वसुश्च (3. 2. 107)

आशास्यमन्यत् पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव।। (वही 5. 34)

(17) तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे- क्वसुश्च (3. 2.107)

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली।। (वही 5.61)

(18) संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः- सृज् विसर्गे (चिण् ते पदः 3.1.60)

वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य।। (वही 5.69)

(19) उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्याम्- भाषायां सदवसश्रुवः (3.2.108)

ऐरावतास्फालनविश्लथं यः संघट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितस्थौ।। (वही 6.73)

(20) यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्- पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः (3.2.18)
तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात्।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्।। (वही 9.55)

(21) प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् - भिक्षासेनादायेषु च (4.2.17)
लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार।। (वही 9.57)

(22) बुभुजे पृथिवीपालः- भुजोऽनवने (1.3.66)
कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम्।
बुभुजे पृथवीपालः पृथवीमेव केवलाम्।। (वही 15.1)

(23) दक्षिणं दोर्निशाचरः - विभाषा ङिश्योः (6.4.136)
तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः।
एकताल इवोतपातपवनप्रेरितो गिरिः।। (वही 15.23)

(24) स नैषधस्यार्थपतेः सुतायाम् - कुरुनादिभ्यो ण्यः (4.1.173)
स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात् पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव।। (वही 18,1)

(25) मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टम्- अजर्यं संगतम् (3.1.105)
तस्मै विसृज्योत्तरकोसलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम्।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध।। (वही 18.7)

(26) प्रार्थयन्ति शयनोत्थितं प्रियाः- णौ गमिरबोधने (2.4.46)
कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः।
प्रार्थयन्ति[1] शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम्।। (वही 19.29)

(27) गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी- गिरौ डश्छन्दसि, वा.(अधिकरणे शेतेः 3.2.15)
अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः।। (कु. सं. 1.60)

(28) विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्- कर्मणि द्वितीया (2. 3. 2)
इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेति एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।। (वही 2. 55)

(29) शार्वरस्य तमसो निषिद्धये- कालाट्ठञ् (4.3.11)
नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये।
पुण्डरीकमुखि! पूर्वदिङ्मुखं केतकैरिव रजोभिराहतम्।। (वही 8.58)

(ख) महाकविभारवेः किरातार्जुनीयमहाकाव्यस्य-

(30) न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः- सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (3.2.78)
क्रियासु युक्तै र्नृप! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।। (किरातार्जुनीयम् 1.4)

1. सिद्धान्तकौमुद्या बालमनोरमाटीकायामिदं पद्यं माघ-महाकाव्यस्योल्लिखितम्, परञ्चेदं कालिदासकाव्यस्येति विज्ञायते। अत्र 'प्रार्थयन्त' इत्येव पाठः समुचितः।

(31) हितात्र यः संशृणुते स किंप्रभुः- धातोरर्थान्तरे वृत्तेः (वेत्तेर्विभाषा 2701)
स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितात्र यः संशृणुते स किंप्रभुः
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ।। (वही. 1,5)

(32) विगणय्य नयन्ति पौरुषम्- कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि (1.3.37)
शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः।। (वही. 2. 35)

(33) प्रविघाटयिता समुत्पतन्- तासि च क्लृपः (7.2.60)
अभियोग इमान्महीभुज भवता तस्य कृतः कृतावधेः।
प्रविघाटयिता समुत्पतन्हरिदश्वः कमलाकरानिव।। (वही. 2, 46)

(34) संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः - प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च (1.3.23)
जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।
असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि।। (वही 3.14)

(35) उपारताः पश्चिमरात्रगोचरात्- पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे (2.2.1)
उपारताः पश्चिमरात्रगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः।। (वही. 4.20)

(36) धृतजयधृतेरनाशुषः- भाषाया सदवसश्रुवः (3. 2. 108)
अभिरश्मिमालिविमलस्य धृतजयधृतेरनाशुषः।
तस्य भुवि वहुतिथास्तिथयः प्रतिजग्मुरेकचरणं निषीदतः।। (वही 12, 2)

(37) नाथसे किमु पतिं न भूभृतः- आशिषि नाथः (क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च 1.3.21)
मार्गणैरथ तव प्रयोजनं नाथसे किमु पतिं न भूभृतः।
त्वद्विधं सुहृदमेत्य सोऽर्थिनं किं न यच्छति विजित्य मेदिनीम्।। (वही 13.59)

(38) आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः- आङो यमहनः (1. 3. 28)
उन्मज्जन्मकर इवामरापगायां वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्यः।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः।। (वही 17.63)

(39) [1]अभिनवौषसरागभृता बभौ- कालाट्ठञ् (4.3.11)
व्रणमुखच्युतशोणितशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः।
अभिनवौषसरागभृता बभौ जलधरेण समानमुमापतिः।। (वही 18.4)

(ग) महाकवेर्माघस्य-

(40) वसन्ददर्श- धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः (3. 4.1)
श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः।। (शिशुपालवधम् 1.1)

(41) पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः- सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (3.2.78)
गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः।। (वही 1.2)

1. सिद्धान्तकौमुद्याम् 'अनुदितौषसरागा' इति पाठः, काव्ये तु 'अभिनवौषसरागभृता' इति पाठोऽस्ति।

(42) प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य- नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च (2.3.16)
प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य शिरोऽतिरागाद्दशमं चिकर्तिषुः।
अतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः।। (वही 1.49)

(43) पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं- समुच्चये सामान्यवचनस्य (3.4.5)
पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा वली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः।। (वही 1.51)

(44) एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृत्ता इव- सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ (5.1.10)
रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाषिरे।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृत्ता इव।। (वही 2. 4)

(45) विराध्यन्तं क्षमेत कः - राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेव (वा.) (चिण्ते पदः 3. 1. 60)
मनागनभ्यावृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः ।। (वही 2. 4)

(46) प्रणयिनो निशमय्य वधूः कथाः- शमो दर्शने (ग.) (भ्वादिप्रकरणे सू. सं. 2353)
न खलु दूरगतोऽप्यतिवर्तते महमसाविति वन्धुतयोर्हितैः।
प्रणयिनो निशमय्य वधूः कथाः स्वरभृतैरमृतैरिव निर्ववौ।। (वही 6.19)

(47) मृदुतया द्रुतयाधरलेखया- ल्वादिभ्यः (8. 2. 44)
व्रणभृता सुतनोः कलसीत्कृतस्फुरितदन्तमरीचिमयं दधे।
स्फुटमिवावरणं हिममारुतै मृदुतया द्रुतयाधरलेखया।। (वही 6, 59)

(48) बहु जगद पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाऽहम्- विभाषा साकाङ्क्षे (3. 2.104)
वहु जगद पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाऽहं चकर च किल चाटु प्रौढयोषिद्वदस्य।
विदितमिति सखीभ्यो रात्रिवृत्तं विचिन्त्य व्यपगतमदयास्नि व्रीडितं मुग्धवध्वा।। (वही 11.39)

(घ) मुरारिकवेरनर्घराघवनाटकस्य-

(49) ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोराः- फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च (3. 2. 26)
यातोऽस्तमेष चरमाचलचूड़चुम्वी पङ्केरुहप्रकरजागरणप्रदीपः।
आः सर्वतः स्फुरतु कैरव आः पिवन्तु ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोराः।। (2, 44)

(50) रक्षांसीति पुरापि संशृणुमहे- अकर्मकादित्येव (वेत्तेर्विभाषा 2701)
रक्षांसीति पुरापि संशृणुमहे वीरस्तु कस्तादृशो
जागर्ति स्म जगत्त्रयी-विपदलं कर्मीणदो विक्रमः।
शश्वद् द्वारभुवि प्रशस्तिरचना वर्णायमानेक्षण-
श्रेणीसंभृतगोत्रभित्रमजयस्तम्भो यथा रावणः।। (वही 6. 25)

(ङ) श्रीहर्षमहाकवेर्नैषधमहाकाव्यस्य-

(51) दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः- विभाषा ङिश्योः (6. 4.136)
यः पृष्ठं युधि दर्शयत्यरिभटश्रेणीषु यो वक्रता-
मस्मिन्नेव विभर्ति यश्च किरति क्रूरध्वनिं निष्ठुरः।
दोषं तस्य तथाविधस्य भजतश्चापस्य गृह्णन् गुणं
विख्यातः स्फुटमेक एष नृपतिः सीमागुणग्राहिणाम्।। (12. 97)

(च) भट्टिकाव्यस्य-

(52) इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे- अनुपसर्गाज्ज्ञः (1. 3. 76)

क्रुध्यन् कुलं धक्ष्यति विप्रवह्नि र्यास्यन्सुतप्स्यति मां समन्युम्।
इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य।। (भ. का. 1, 23)

(53) तेन संगतमार्येण रामाजर्यं कुरु द्रुतम्- अजर्यं संगतम् (3.1.105)

तेन संगतमार्येण रामाजर्यं कुरु द्रुतम्।
लङ्कां प्राप्य ततः पापं दशग्रीवं हनिष्यसि।। (भ. का. 6.54)

(54) हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु- उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (7.1.70)

हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ। प्रवाति स्वेच्छया वायुरुद्गच्छति च भास्करः।। 18. 19

(55) मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते- ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् (1.1.11)

मणीवोष्ट्रस्य लम्वेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवारित पौरुषम्।। (महाभा. शा.प.अ. 177)

(56) घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः- तृजकाभ्यां कर्तरि (2.2.15)

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता। कविः स्पर्द्धालुश्चेद् अहह कविना वश्यवचसि।
तदेतज्ज्ञानेऽहं कतिपयदिने पापिनि कलौ। घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्चकलहः।।

(57) न विश्वसेदविश्वस्तम्- तनादिकृञ्भ्यः उः (3.1.79)

न विश्वसेदविश्वस्तं विश्वस्तं नातिविश्वसेत्। विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति।। पंचतंत्रे.

(58) निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम- शमो दर्शने (ग. सू. 2353)

सावर्णिः सूर्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः। निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम।। दु.स. 1.2.

(59) भूतानि कालः पचतीति वार्ता- कालसमयवेलासु तुमुन् (3.4.167)

अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तु दर्वी परिघट्टनेन भूतानि कालःपचतीति वार्ता।।

तदित्थमत्र प्रायः सर्वेषां सिद्धान्तकौमुद्यामुद्धृतपद्यभागानां परिचयो जातः। सहैव महावैयाकरणानां भट्टोजिदीक्षितमहाभागानामध्ययनानुशीलनपटुत्वञ्चाप्यवगतम्। अत एव तत्सिद्धान्तकौमुदीमधिकृत्यैषा लौकिकी गाथा प्रवृत्ता यत्-

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः। कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।।

महर्षिपतञ्जलेः स्वाभाविकवचनानि

1. उभयमिदं वर्णेषूक्तम्-अर्थवन्तोऽनर्थका इति च, किमत्र न्याय्यम्? उभयमित्याह, कुतः, स्वभावतः। तद्यथा-समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते अपरे न। न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुम्, कश्चिद्वाऽनर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्त्तुम्-यद्धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपाता एकवर्णा अर्थवन्त, अतोऽन्येऽनर्थका इति, स्वाभाविकमेतत्। हयवरट्, मा. सू. 5

2. नेदं वाचनिकम्-अलिङ्गताऽसंख्याता च, किं तर्हि ? स्वाभाविकमेतत्। तद्यथा-समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न, तत्र किमस्माभिः कर्तुं शक्यम् ? स्वाभाविकमेतत्। तद्धितश्चासर्वविभक्तिः 1.1.38

3. प्रत्यात्मवचनमशिष्यम्, किं कारणम् ? स्वाभावसिद्धत्वात्, स्वभावत एतत् सिद्धम्। तद्यथा-समाजेषु समाशेषु समवायेषु चाऽऽस्यतामित्युक्ते न चोच्यते प्रत्यात्ममिति प्रत्यात्मं चाऽऽसते। स्थानेऽन्तरतमः 1.1.50

4. अन्तरतमवचनं चाऽशिष्यम् योगश्चाप्ययमशिष्यः, कुतः ? स्वभावसिद्धत्वादेव। तद्यथा-समाजेषु समाशेषु समवायेषु चाऽऽस्यतामित्युक्ते नैव कृशाः कृशैः सहासते न पाण्डवः पाण्डुभिः। येषामेव किञ्चिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते। तथा गावो दिवसं चरितवत्यो यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते। तथा चान्येतानि गोयुक्तकानि संघुष्ठकानि भवन्ति तान्यन्योन्यं पश्यन्ति शब्दं कुर्वन्ति। अचेतनेष्वपि दृश्यते। तद्यथा-लोष्ठक्षिप्तो वहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथ्वीविकारः पृथ्वीमेव गच्छत्यान्तर्यतः। या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः, स धूम आकाशे निवातेनैव तिर्यग् गच्छति नार्वागवरोहति। अब्विकारोऽप एव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं नैव तिर्यग्गच्छति नार्वागवरोहति। ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः। स्थानेऽन्तरतमः 1.1.50

5. सरूपाणामेकेनाप्यनेकस्याभिधानं भवति न विरूपाणाम्। किं पुनः कारणं सरूपाणामेकेनाप्यनेकस्याभिधानं भवति न पुनर्विरूपाणाम्। अभिधानस्वाभाव्यात्। अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्। स्वाभाविकमभिधानं भवति। सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ 1.2.64

6. अथैतस्मिन्नेकार्थीभावकृते विशेषे किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थानामभिधानमाहोस्विद्वाचनिकम्। स्वभाविकमित्याह, अभ्रे चन्द्रमसं पश्येति। स्वभावतस्तस्यं तत्रस्थस्य पथश्चन्द्रमसश्च निमित्तत्त्वेनान्वाख्यानं क्रियते। एवमिहापि चार्थे यः स द्वन्द्व इति। समर्थः पदविधिः 2.1.1

7. वावचनमनर्थकम् । किं कारणम्? स्वभावसिद्धत्वात्। इह द्वौ पक्षौ वृत्तिपक्षश्चावृत्तिपक्षश्चेति। स्वाभावतश्चैतद्भवति वाक्यं च समासश्च स्वभाविके वृत्तिविषये नित्ये समासे प्राप्ते वावचनेन किमन्यच्छक्यमभिसम्वद्धुमन्यदतः संज्ञाया इति। पा० सू० 2.1.1, 4.1.82

8. प्लक्षोऽपि न्यग्रोधः न्यग्रोधोऽपि प्लक्ष इति सहभूतावेतावन्योन्यस्यार्थमाहतुः न पृथग्भूतौ। किं पुनः कारणं सहभूतावेतावन्योऽन्यस्यार्थमाहतु र्न पृथग्भूतौ। अभिधानं पुनः स्वाभाविकमिति। चार्थे द्वन्द्वः 2.2.29

9. सतस्तत्र परस्य कार्यमुच्यते। इहेदानीं कस्य सतः परस्य कार्यं भवितुमर्हति। इहापि सत एव, कथम् ? स्वाभाविकं परत्वम्। परश्च 3.1.12

10. न क्वचिद्योग इति कृत्वातः सर्वत्र योगेन भवितव्यम्। क्वचिद्वाऽयोग इति कृत्वा सर्वत्रायोगेन। तद्यथा-समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते अपरे न। न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुं कश्चिद्वानर्थक इति सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्त्तुं-यल्लटोऽप्रथमासमानाधिकरणेन योगो भवति लङो न भवति स्वाभाविकमेतदिति।

लटः शानचा० 3.2.124

11. वावचनं चानर्थकम्। किं कारणम् ? स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभाव एव तृतीयादिषु अजादिषु विभक्तिषु तृजन्तं तुन्नन्तं च मृगवाचीति। तृज्वत्क्रोष्टुः 7.1.95

एवमेभिरेकादशस्वाभाविकवचनैश्च शब्दानां स्वाभाविकी प्रवृत्तिरेव शब्दार्थलिङ्संख्यादेशादि-निर्धारणे निदानं भवतीति निश्चीयते। इति शम्।।

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

1. अष्टाध्यायीसूत्रपाठ- पाणिनिमुनिप्रणीत, सम्पादक- पं. श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, प्रकाशक - रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत- हिरयाणा) 1974 ई.
2. अर्थप्रकाशिका - डॉ. राधारमण पाण्डेय, प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी 1966 ई.
3. कलापसूत्र (कातन्त्र व्याकरण) शर्ववर्माप्रणीत, हिन्दी अनुवादक- श्री अवनीश भट्टाचार्य,
4. काशिका - जयादित्यवामनप्रणीत, सम्पादक - डॉ. श्रीनारायण मिश्र,
5-6. छान्दोग्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद् - उपनिषत्संग्रह,

7. नन्दिकेश्वर काशिका - टीकाकार - उपमन्यु
8. निरुक्त - आचार्य यास्क प्रणीत, सम्पादक - पं. भगवद्दत्त
9. परिभाषेन्दुशेखर - नागेशभट्ट प्रणीत, तत्त्वप्रकाशिका - समलङ्कृत-भूतिभूषित, सम्पादक- गोविन्द नरहरि वैजापुरकर, वि. सं. 2000 काशी,
10. पाणिनीयकालीन भारतवर्ष- डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, काशी,
11. पातञ्जल योगदर्शन - महर्षिपतञ्जलिप्रणीत, गीताप्रेस, गोरखपुर,
12. पाणिनीय शिक्षा
13. प्रौढमनोरमा - भट्टोजिदीक्षित, सभैरवीशब्दरत्नसहिता, वि. सं. 2039 काशी,
14. महाभाष्यटीका - भर्तृहरिप्रणीत, सम्पादक-स्वामीनाथन्,
16. मुग्धबोध व्याकरण - वोपदेवप्रणीत
17. लघुशब्देन्दुशेखर - नागेशभट्ट, सम्पादक - गोपाल शास्त्री नेने, प्रकाशक - चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, विद्या विलास प्रेस, वाराणसी 1938 ई.
18. वरिवस्यारहस्य - श्री भास्कर राय मक्खी, प्रकाशसंस्कृतव्याख्यासहित, हिन्दी व्याख्या - आचार्य विश्वनाथ पाण्डेय,
19. वाक्यपदीय - आचार्य भतृहरि, सम्पादक- पं. रमागोविन्द शुक्ल,
20. वैदिक वाङ्मय का इतिहास - पं. भगवद्दत्त,
21. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी - बालमनोरमा- तत्त्वबोधिनीटीकासंवलित, सम्पादक- म. म. श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी एवं म. म. परमेश्वरानन्द,
22. व्याकरण शास्त्र का इतिहास - पं० युधिष्ठिर मीमांसक,
23. शब्दरत्न - प्रौढमनोरमाटीका - श्रीहरिदीक्षित,
24. शाकटायन व्याकरण - चिन्तामण्यपराभिधान- लघुवृत्तिसहित, शाकटायन-पाल्यकीर्ति,
25. संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास - डॉ. सात्यकाम वर्मा,
26. संस्कृत साहित्य का इतिहास - आचार्य बलदेव उपाध्याय,
27. सांख्यकारिका - श्री ईश्वरकृष्णप्रणीत,
28. सुपद्म व्याकरण (बंगला भाषा में उपलब्ध) - आचार्य पद्मनाभ,

वाल्मीकीयं हनुमदष्टकम्

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥ 1 ॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥ 2 ॥

न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥ 3 ॥

अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमव्यथम् ।
उरस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥ 4 ॥

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम् ॥ 5 ॥

अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥ 6 ॥

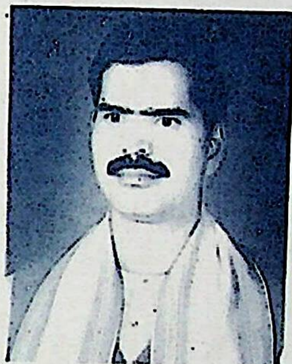
एवंविधो यस्य दूतो न भवेत्पार्थिवस्य तु ।
सिद्ध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ ॥ 7 ॥

एवंगुणगणै र्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः ।
तस्य सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः ॥ 8 ॥

हनुमद्वचनं श्रुत्वा भ्रातरं लक्ष्मणं प्रति ।
प्रोक्तं रामेण कापेयमष्टकं कार्यसाधकम् ॥

हनुमदष्टकं ह्येतद् यो नरः प्रत्यहं पठेत् ।
स शाब्दिको भवेद् वक्ता सचिवः कार्यसाधकः ॥

वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, तृतीय सर्ग 28-35



डॉ. उपेन्द्र पाण्डेय

जन्म- 9 अप्रैल 1962 ई०; भरुव, औरंगावाद, विहार।
शिक्षा- व्याकरणाचार्य (लब्धस्वर्णपदक), का.हि.वि.वि।
साहित्याचार्य, प्रथम श्रेणी, सं. सं. विश्वविद्यालय।
एम. ए. (संस्कृत) प्रथम श्रेणी, काशी विद्यापीठ,।
पी-एच.डी.(संस्कृत) सन् 1987 काशीहिन्दू विश्वविद्यालय।

अध्यापन

व्यकरणाध्यापक (9 अप्रैल 1985 से 1988 तक) रणवीर संस्कृत विद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
व्याकरण-प्राध्यापक (1989 से 1991 तक) वैदिक अध्ययन वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान।
प्राध्यापक (अक्टूवर 1991 से अद्यावधि) साहित्य विभाग, सं. वि. ध. वि. संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
प्रशासनिक संरक्षक (सितम्वर 1996 से .....) रुइया छात्रावास, संस्कृत ब्लाक, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय।
मन्त्री (नवम्वर 1997 से....) कवि भारती, वाराणसी।

प्रकाशन

प्रतियोगिता-प्रबन्धादर्शः (संस्कृत मौलिक रचना)
देवी गीता (सम्पादन एवं हिन्दी व्याख्या सहिता)
32 शोध-निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में प्रकाशित।

वार्ता-प्रसारण- आकाशवाणी के इलाहावाद-वाराणसी केन्द्र से वहुशः संस्कृत वार्ताएँ एवं सं. काव्यपाठ प्रसारित।

पदक प्राप्ति- कालिदास समारोह, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से अखिल भारतीय अन्तर्विश्वविद्यालयीय संस्कृत वादविवाद स्पर्द्धा 1981, 1982 में क्रमशः रजतपदक एवं स्वर्णपदक प्राप्त। इसके अतिरिक्त विविध संस्कृत प्रतियोगिताओं में ससम्मान प्रथम स्थान के साथ दो अन्य रजतपदक एवम् अनेकशः चलवैजयन्ती (शील्ड) प्राप्त।

नाट्यनिर्देशन- वेणीसंहारम् (तृतीयाङ्क) एवं कर्णभारम्।

